

अन्नावोचत स्वयमेव स्तुतिषु यथा--

वज्रेष्वदभुतपच्चवर्णजलदेष्वत्युग्रवात्यायुध-
ब्रातेष्वप्सरसां गणेग्निजलधिव्यालेषु भूतेष्वपि ।
यध्दयानानुगुणीकृतेषु विदधे वृष्टि मरू दवादिनी
गोत्रा यं प्रतिमेघमाल्यसुरराट विश्वं स पार्श्ववततात ॥

लहरी--परम्परा, ऊष्मा--दुःसहवीर्यानीभवः । साधीयसाम--अतिशयशालिनाम ॥५७॥

भोगना पडता है । फिर भी धर्माचरण करनेसे मनुष्यके दुःख भोगते हुए भी जो शान्ति बनी रहती है वही धर्मका फल है । अन्यथा विपत्तिमे मनुष्य आत्मघात तक कर लेते हैं ॥५६॥

पापके अपकार और पुण्यके उपकारको दृष्टान्तके द्वारा करनेके लिए दो पद्य कहते हैं--

हम तेईसवे तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ पर कमठके द्वारा किये गये उन प्रसिद्ध भयानक उपसर्गोंकी रम्पराको जन्म देनेमे समर्थ दुःस्सह शक्तिशाली दुष्कर्मके उस आगमप्रसिद्ध तीव्र दुःसह उदयका कहों तक कान करे । तथं इन्द्रके द्वारा नियुक्त धंरणेन्द्र और पद्यावती नामक यक्ष-यक्षणी द्वारा भी दूर न की जा सकनेवाली पार्श्व प्रभुकी अत्यन्त दुःखदयक दुर्दशाको रोकनेमे अधिकाधिक प्रतापशाली उस धर्मकी सर्वत्र सर्वदा कार्यकारी महती मैत्रीका भी कहों तक गुणगान करे ? टीक ही है इस लोकमे अतिशयशालियोकी कोई सीमा नहीं है ॥५७॥

विशेषार्थ--जैन शास्त्रमे भगवान पार्श्वनाथ और उनके जन्मके भ्राता कमठके वैरकी लम्बी कथा वर्णीत है । जब भगवान पार्श्वनाथ प्रव्रज्या लेकर साधु बन गये तो अहिच्छत्रके जंगलमे ध्यानमग्न थे । उधरसे उनका पूर्व जन्मोका वैरी कमड़ जो मरकर व्यन्तर हुआ था, जाता था । भगवान पार्श्वनाथको देखते ही उसका क्रोध भडका और उसके भीषण जलवृष्टि, उपलवृष्टि, झंझावातके साथ ही अग्नि, समुद्र, सर्प, भूत, वैताल आदिके द्वारा इतना त्रस्त कया कि इन्द्रका आसान भी डोल उठा । इन्द्रके आदेशसे धंरणेन्द्र और पद्यावती संकट दूर करनेके लिए आये । किन्तु वे भी उन उत्पातोका निवारण नहीं कर सके । किन्तु भगवान पार्श्वनाथ रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए, वे बराबर ध्यानमग्न बने रहे । उनकी उस धर्माधनाने ही उस संकटको दूर किया । इसी परसे ग्रन्थकार कहते हैं कि पापकर्मकी शक्ति तो प्रबल है ही किन्तु धर्मकी शक्ति उससे भी प्रबल है जे बड़ें-बड़े उपद्रवको भी दूर करनेकी क्षमता रखती है ।

आशाधंरजीने अपनी टीकामे दो विशिष्ट बाते लिखी है । एक इन्द्रकी आज्ञासे धंरणेन्द्र पद्यावती आये और दूसरे वे व्यन्तर कृत उपद्रवको दूर नहीं कर सके ।

अपि च--

प्रद्युम्नः षडहोर्ध्वोसुर भिदः सौभागिनेयः क्रुधा

हत्वा प्राग्विगुणासुरेण शिलयाक्रान्तो वने रू न्द्रया ।
तत्कालीनविपाकपेशलतमैः पुण्यैः खगेन्द्रात्मजी-
कृत्यालम्ब्यत तेन तेन जयिना विद्याविभूत्यादिना ॥५८॥

सौभागिनेयः--सुभगाया इतरकान्तापेक्षया अतिवल्लभाया रू किमण्या अपत्यम । प्राग्विगुणः--प्राक
मधुराजभवे विगुणः वल्लभावहरापकर्ता । असुरेणइहेमरथराजचरेण ज्वलितधूमशिखनाम्ना दैत्येन । वने--
महाखदिराटव्याम । खगेन्द्रात्मजीकृत्य--कालसंवरनाम्नो विद्याधरेन्द्रस्य अनात्मजं सन्तमात्मजं कृत्वा
अलम्ब्यत--योज्यते स्म ॥५८॥

ननु मन्त्रादिप्रयोगोपि विपन्निवारणाय शिष्टैर्व्यवहियते । तत्कथं भवता तत्प्रतीकारे पुण्यस्यैव
सामर्थ्यप्रकाशनं न विरुध्यते इत्यत्राह--

यश्चातनुश्रुयते हर्तुमापदः पापपक्त्रिमाः ।
उपायः पुण्यसदबन्धु सोप्युत्थापयितु परम ॥५९॥

पापपक्त्रिमाः--पापपाकेन निर्वृत्ताः ॥५९॥

ये दोनो बाते अनथा शास्त्रोमे वर्णित नही है । किन्तु दोनो ही यथार्थ प्रतीत होती है ।
मध्यलोकमे सौधर्म इन्द्रका शासन होनेसे भवनवासी देव भी उसके ही अधीन है अतः भंगवानपर उपसर्ग
होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे धरणेन्द्र-पद्यावतीका आना उचित है । दूसरे इन दोनोने आकर उपसर्गसे रक्षा तो
की । धरणेन्द्रने अपना विशाल फणामण्डप भंगवानपर तान दिया । किन्तु उपसर्ग दूर हुआ भगवानकी
आत्माराधन रू प धर्मके प्रभांसे दोनो ही बाते स्मरणीय है ॥५७॥

दूसरा उदाहरण--

दैत्यका मर्दन करनेवाले श्रीकृष्णकी अतिवल्लभा रू किमणीके पुत्र प्रद्युम्नको, जब वह केवल छह
दिनका शिशु था, कुद्र ज्वलित धूमशिखी नामके दैत्यके हरकर महाखदिर नामकी अटवीमे बडी भारी
शिलाके नीचे दबा दिया और चुपरसे भी दबाया । इसका कारण यह था कि पूर्वजन्ममे मधु राजाकी
पर्यायमे प्रद्युम्नने उसकी प्रिय पत्नीका बलपूर्वक हरण किया था । किन्तु तत्काल ही उदयमे आये अत्यम
मधुर पुण्यकर्मके योगसे विद्याधरोका स्वामी कालसंवर उस वनमे आया और उसने शिलाके नीचेसे
शिशुको निकालकर अपना पुत्र बनाया । कालसंवरके अन्य पुत्र उसके विरुद्ध थे । प्रद्युम्नने उन्हे
पराजित किया तथा विद्याधरोकी विद्याएँ और सोलह अदभुंत लाभ प्राप्त किये ॥५८॥

किन्हीका कहना है कि विपत्तिको दूर करनेकेलिए शिष्टजन मन्त्रादिके प्रयोगका भी व्यवहार करते
हैं । तब आप उसके प्रतीकारकेलिए पुण्यकी ही शक्तिका गुणगान क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं--

पापकर्मके उदयसे आनेवाली विपत्तियोंको दूर करनेकेलिए सिद्ध मन्त्र आदिका प्रयोग जो आप्त
पुरुषोकी उपदेश परम्परासे सुना जाता है वह भी कवल सच्चे बन्धु पुण्यको ही जाग्रत करके अपने

कार्यमे लगानेके लिए किया जाता है । अर्थात् पुण्योदयके विना मन्त्र-तन्त्र आदि भी अपना कार्य करनेमे असमर्थ होते है ॥५९॥

अथोदयाभिमुख-तद्विमुखत्वे द्वयेपि पुण्यस्य साधनवैफल्यं दर्शयति--

पुण्यं हि समुखीन चेत सुखोपायशतेन किम ।
न पुण्य संमुखीन चेत सुखोपायशतेन किम ॥६०॥

समुखीनम--उदयाभिमुखम ॥६०॥

अथं पुण्यपापयोबलाबल चिन्तयति--

शीतोष्णवत परस्परविरु ध्वयोरिह हि सुकृत-दुष्कृतयेः ।
सुखदःखफलोध्वयोर्दुबलमभिभूयते बलिना ॥६१॥

स्पष्टम ॥६१॥

अथ क्रियमाणोपि धर्मः पापपाकमपकर्षतीत्याह--

धर्मोनुष्ठीयमानोपि शुभभांवप्रकर्षतः ।
भडक्त्वा पापरसोत्कर्ष परमुच्छ्वासयरत्यरम ॥६२॥

उच्छ्वासयति--किचिदापदो चयति ॥६२॥

अथ प्रकृतार्थमुपसंहरन धर्माराधनाया श्रोतन प्रोत्साहयति--

तत्सेव्यतामभ्युदयानुषडफलोखिलक्लेशविशनिष्टः ।
अनन्तशर्मा मृतदः सदार्येर्विचार्य सारो नृभवस्य धर्मः ॥६३॥

आगे कहते है कि पुण्य कर्म उदयके अभिमुख हो अथवा विमुख हो दोनो ही अवस्थाओमे सुखके साधन व्यर्थ है--

यदि पुण्य कर्म अपना फल देनेमे तत्पर है तो सुखके सैकडो उपायोसे क्या प्रयोजन है, क्योकि पुण्यके उदयमे सुख अवश्य प्राप्त होगा । और यदि पुण्य उदयमे आनेवाला नही है तो भी सुखके सैकडो उपाय व्यर्थ है क्योकि पुण्यके विना उनसे सुख प्राप्त नही हो सकता ॥६०॥

आगे पुण्य और पापमे बलाबलका विचार करते है--

पुण्य और पाप शीत और उष्णकी तरह परस्परमे विरोधी है । पुण्यका फल सुख है और पापका फल दुःख है । इन दोनोमे जो दुर्बल होता है वह बलवानके द्वारा दबा दिया जाता है ॥६१॥

तत्काल कया गया धर्म भी पापके उदयको मन्द करता है यह बताते हैं--

उसी समय कया गया धर्म भी शुभ परिणामोके उत्कर्षसे पाप कर्मके फल देनेकी शक्तिकी उत्कटताको घात कर शीघ्र ही मनुष्यको शान्ति देता है। अर्थात् पहलेका किया गया धर्म ही सुखशान्ति दाता नहीं होता, किन्तु विपत्तिके समय किया गया धर्म भी विपत्तिको दूर करता है ॥६२॥

प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए श्रोताओका धर्मकी आराधनामे उत्साहित करते हैं--

यतः धर्मकी महिमा स्थायी और अचिन्त्य है अतः विचारशुभल पुरुषोको विचारकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रामाण्यसे निश्चित करके सदा धर्मकी आराधना करनी चाहिए; क्योंकि धर्म मनुष्य-जन्मका सार है--अत्यन्त उपादेय होनेसे उसका अन्तः भाग है, उसका आनुषंगिक फल अयुदय है। अर्थात् धर्म करनेसे जो पुण्य होता है उससे सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है अतः यह गौणफल है। वह सब प्रकारके क्लेशोको नष्ट करनेमे सदा

अनुषंगः--अनुषज्यते धर्मेण संबध्यमत इत्यनुषंगोत्र पुयम। अनन्तशर्मामृतदः--निरवधिसुख मोक्ष दत्ते ॥६३॥

अथ द्वाविशत्या पद्यैर्मनुष्यत्वस्य निःसारत्वं चिन्तयति तत्र तावच्छरीस्वीकरदुःखमाह--

प्राड मृत्युक्लेशितात्मा दुरतगतिरु दरावस्करेहाय नार्याः
संचार्याहार्य शुक्रवमशुचितर तन्निगीर्णान्नपानम।
गृध्याशनन क्षुत्तृषार्तः प्रतिभ्यभवनाद्धिदत्रसन पिडितो ना
दोषाद्यात्मानिर्त चिरमिह विधिन ग्राहयतेड वराकः ॥६४॥

दुतगतिः--एक-द्धि-त्रिससमयप्रायप्यगन्तव्यथानः। अवस्करः--अहार्य--ग्राहयित्वा। तन्निगीर्णइ
तया नार्या निगीर्णमाहतम। प्रतिभयभवनात--निम्नोन्नतादिक्षोभरणात। ना--मनुष्यगतिनामकर्मोदयवर्ती
जीवः। दोषाद्यात्म--दोषधातुमलस्वभावम। अनिशार्त--नित्यातुरम। चिरं--नवमासान यावत् नृभवे
॥६४॥

तत्पर है और अनन्त सुख स्वरूप मोक्षको देनेके साथ लम्बे समय तक सांसारिक सुख भी देता है ॥६३॥

विशेषार्थ--धर्म स्वार्थसिद्धि पर्यन्त देवत्व रूप और तीर्थकरत्व पर्यन्त मानुषत्व रूप फल देता है इसका समर्थन पहले कर आये है। वह धर्मका आनुषंगिक फल है। अर्थात् धर्म करनेसे सांसारिक सुखका लाभ तो उसी प्रकार होता है जैसे गेहूकी खेती करनेसे भूसेका लाभ अनायास होता है। किन्तु कोई बुद्धिमान भूसेकेलिए खेती नहीं करता ॥६३॥

आगे यहाँसे बाईस पद्योकेद्वारा मनुष्यभंवकी निस्सारताका विचार करते हैं। उसमे सबसे प्रथम शरीर ग्रहण करनेकेदुःखको कहते हैं--

नया शरीर ग्रहण करनेसे पहले यह आत्मा पूर्वजन्मके मरणका कष्ट उठाता है। पुनः नया शरीर धारण करनेके लिए शीघ्र गतिसे एक या दो या तीन समयमे ही अपने जन्मस्थानमे पहुँचता है। उस

समय पदाथंरोके जाननेके लिए प्रयत्न रूप उपयोग भी उसका नष्ट हो जाता है क्योंकि विग्रहगतिमे उपयोग नहीं रहता । वहाँ तत्काल ही वह माताके उदररूपी शौचा लयमे प्रवेश करके अति अपवित्र रज-वीर्यको ग्रहण करता है और भूख प्याससे पीडित होकर माताके द्वारा खाये गये अन्न पानको लिप्सापूर्वक खाता है । ऊँचेनीचे प्रदेशो पर माताके चलने पर भयसे व्याकुल होकर सिकुड जाता है । रात-दिन दुखी रहता है । इस प्रकार बेचारा जीव पूर्वकर्मके उदयसे वात पित्त कफ, रस, रू धिर, मांस, भेद, हडडी, मज्जा, वीर्य, मलमूत्र आदिसे बने हुए शरीरको नौ दस मासमे ग्रहण करता है ।

विशेषार्थ--इस विषयमे दो श्लोक कहे गये है ॥६४॥

कललं कलुषस्थिरत्व पृथग्दशाहेन बुदबुदोथ घनः ।

तदनु ततः पलपेश्यथ क्रमण मासेन पश्च पुलकमतः ॥

चर्मनखरोमसिद्धिः स्यादडोपाड सिद्धिरथ गर्भे ।

स्पन्दनमष्टममासे नवमे दशमेथ निःसरणम ॥

माताके उदरमे वीर्यका प्रवेश होने पर दस दिन तक कलल रूपसे रहता है । फिर दस दिन तक कलुषरूपसे रहता है । फिर दस दिन तक स्थिर रहता है । दूसरे मासमे बुदबुद--
अथ गर्भप्रसवक्लेशमाह--

गर्भक्लेशानुद्भुतेर्विद्रुतो वा निन्द्यद्वारेणैव कृच्छादिवृत्य ।

निर्यस्तत्तदुःखदत्याकृ.तार्थी नूनं दत्ते मातुरु ग्रामनस्यम ॥६५॥

विद्रुतः--वित्रस्तः । निन्द्यद्वारेण--आर्तववाहिना मार्गेण । विवृत्य--अधोमुखो भूत्वा ।
तत्तदुःखदत्या--गर्भावतरणक्षाणात प्रभूति बाधासंपादनेने । आमनस्यं--प्रसूतिजं दुःखम ॥६५॥

बुलबुलाकी तरह रहता है । तीसरे मासमे धनरूप हो जात है । चौथे मासमे मांसपेशियाँ बनती है । पाँचवे मासमे पाँच पुलक-अंकुर फूटते हैं । छठे मासमे उन अंकुरोसे अंग और उपांग बनते हैं । सातवे मासमे चर्म, नख रोम बनते हैं । आठवे मासमे हलन-चलन होने लगता है । नौवे अथवा दसवे महीनेमे गर्भसे बाहर आता है ।

अर्थात्--मृत्युके बाद जीव तत्काल ही नया जन्म धारण कर लेता है । जब वह अपने पूर्व स्थानसे मरकर नया जन्म ग्रहण करनेके लिए जाता है तो उसकी गति सीधी भी होती है और मोडे वाली भी होती है । तत्त्वार्थसूत्र [२।२६] मे बतलाया है कि जीव और पुद्गलोकी गति आकाशके प्रदेशोकी पंक्तिके अनुसार होती है । आकाश यद्यपि एक और अखण्ड है तथापि उसमे अनन्त प्रदेश है और वे जैसे वस्त्रमे धागे रहते हैं उसी तरह क्रमबद्ध हैं । उसीके अनुसार जीव गमन करता है । यदि उसके मरणस्थानसे नये जन्मस्थान तक आकाश प्रदेशोकी सीधी पंक्ति है तो वह एक समयमे ही उस स्थान पर पहुँचकर अपने नये शरीरके योग्य वर्गणाओके ग्रहण करने लगता है । इसे ऋजुगति कहते हैं । अन्यथाउसे एक या दो

या तीन मोडे लेने पडते है और उसमे दो या तीन या चार समय लगते है विग्रहगति कहते है । विग्रह गतिमे स्थूल शरीर न होनेसे द्रव्येन्द्रिये भी नही होती अतः वहाँ वह इन्द्रियोसे जानने देखने रू प व्यापार भी नही करता । गर्भमे जानेकेबादकी शरीररचनाका जो कथन गन्थकारने किया है सम्भव है वह भगवती आराधनाका ऋणी हो । भ. आ. मे गाथ १००३ से शरीरकी रचनाका क्रम वर्णित है जो ऊपर दो श्लोकोमे कहा है । तथा लिखा है कि मनुष्यके शरीरमे तीन सौ अस्थियाँ है जो दुर्गन्धित मज्जसे भूरी हुई है, चार शिराजाल है, सोलह कडेर (?) है, छह सिराओके मूल और दो मांसरज्जू है । सात त्वचा है, सात कालेयक है, अस्सी लाख कोटि रोम है । पक्वशय और आमाशयमे सोलह आँते है । सात मलके आशय है । तीन स्थूणा है, एक सौ सात मर्मस्थान है । नौ द्वार है जिनसे सदा मल बहता है । मस्तिष्क, मेद, ओज और शुक्र एक एक अंजुलि प्रमाण है । वसा तीन अजुलि, पित्त छह अंजुलि, कफ भी छह अंजुलि प्रमाण है । मूत्र एक आढक, विष्टा छह प्रस्थ, नख बीस, दाँत बत्तीस है [गा. १०२७-३५]

आगे गर्भसे बाहर आनेमे जो क्लेश होता है उसे कहते है--

गर्भके कष्टोके पीछा करनेसे ही मानो भयभीत होकर गभस्थजीव मलमूत्रके निन्दनीय द्वारसे ही कष्टपूर्वक नीचेको मुख करके निकलता है । और गर्भमे आनेसे लेकर उसने माताको जो कष्ट दिये उससे उसका मनोरथ पूर्ण नही हुआ मनो इसीसे वह माताको भयानक प्रसवतवेदना देता है ॥६५॥

अथ जन्मानन्तरभ्रुविक्लेश भ्रुवयति--

जातः कथंचन वपुर्वहनश्वमोत्थ-

दुःखप्रदोच्छ्वसनदर्शनसुस्थितस्य ।

जन्मोत्सव सृजती बन्धुजनस्य यावद

यास्तास्तमाशु विपदोनुपतन्ति तावत ॥६६॥

यास्ताः--प्रसिद्धाः फुल्लिकान्त्रा गोपिकाप्रभृतयः ॥६६॥

अथ बाल्यं जुगुप्सते--

यत्र क्वापि धिगत्रपो मलमरु न्मूत्राणि मुच्चन मुहु-

र्यतं किचिद्धदनेर्पयन प्रतिभंयं यस्मात् कुतश्चित्पतन ।

लिम्पन स्वाडमपि स्वयं स्वशकृता लालाविलास्योहिते,

व्याषिद्धो हतवत रू दन कथमपि च्छिद्येत बाल्यग्रहात् ॥६७॥

यत्र क्वापि--अनियतस्थानशयनासनादौ । यक्तचित्त--भक्ष्यमभक्ष्यं वा । यस्मात् कुतश्चित्--पतदभाजनशब्दादेः । पतन--गच्छन । (स्व) शकृता--निजपुरीषोण । अहिते--मृदभक्षणादौ । विद्येत--वियुज्येत मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥६७॥

अथ कौमारं निन्दति--

धूलीधूसरगात्रो धावन्नवटाश्मकण्टकादिरू जः ।

अवटः--गर्तः । अमर्षन-ईर्ष्यन ॥६८॥

आगे जन्मकेपश्चात् होने वाले कष्टोका विचार करते हैं--

किसी तरह महान कष्टसे जन्म लेकर वह शिशु शरीर धारण करनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुई दुःखदायक श्वास लेता है उसके देखनेसे अर्थात् उसे जीवित पाकर उसके मातापिता आदि कुटुम्बी उसे जन्मसे जब तक आनन्दित होते हैं तब तक शीघ्र ही बच्चोको होने वाजी प्रसिध्द व्याधियाँ घेर लेती है ॥६६॥

बचपनकी निन्दा करते हैं--

बचपनमे शिशु निर्लज्जतापूर्वक जाहँ कही भी निन्दनीय मल-मूत्र आदि बार-बार करता है । कोई भी वस्तु खानेकी हो या न हो अपने मुखमे दे लेता है । जिस किसी भी शब्द आदि से भयभीत हो जाता है । अपनी टट्ठीसे स्वयं ही अपने शरीरको भी लेप लेता है । मुख लारसे गन्दा रहता है । मिट्ठी आदि खानेसे रोकने पर ऐसा है मानो किसीने मारा है । इस बचपन रू पी ग्रहके चक्करसे मनुष्य जिस किसी तरह छूट पाता है ॥६७॥

आगे कुमार अवस्थाका तिरस्कार करते हैं--

बचपन और युवावस्थाके बीचकी अवस्थावाले बालकको कुमार कहते हैं । कुमार रास्तेकी धूलसे अपने शरीरको मटीला बनाकर दौडता है तो गडढेमे गिर जाता है या पत्थरसे टकरा जाता है या तीखे काँटे वगैरहसे बिध जाता है । यह देखकर साथमे खेलनेवाले बालक हँसते हैं तो उनसे रू ठ जाता है ॥६८॥

अथ यौवनमपवदति--

पित्रौः प्राप्य मृषामनोरथशतैस्तैस्तारु ण्यमुन्मार्गगो

दुर्वारव्यसनाप्तिशडिमनसोर्दुःखार्चिषः स्फारयन ।

तत्किचित्प्रखरस्मरः प्रकुरते येनोद्धधमनः पितृत

क्लिश्नन भूरीविडम्बनाकलुषितो धिग्दुर्गतौ मज्जति ॥६९॥

उद्धधाम्नः--विपुलतेजस्कान प्रशस्तस्थानान वा । विडम्बनाः--खरारोपणादिविगोपकाः । दुर्गतौ--दारिद्र्ये नरके वा ॥६९॥

अथ तारु ण्येपि अविकारिणः स्तौतिइ

धन्यास्ते स्मरवाडवानलशिखदीप्रः प्रवल्गदबल-

क्षाराम्बुर्निरवग्रहेन्द्रियमहाग्राहोभिमानीर्मिकः ।

यैर्दोषाकरसंप्रयोगनियतस्फीतः स्वसाच्चक्रिभि-

दोषाकरः--दुर्जनश्चन्द्रश्च । स्फीतिः--प्रतिपत्तिर्वृद्धिश्च । स्वसाच्चक्रिभिः--आत्मायत्तानि कुर्वाणैः
। वसुवत--नत्नानीव ॥७०॥

अथ मध्यावस्थांमेकादशभिः पद्यैर्धिक्कुर्वाणः प्रथम तावदपत्यपोशषणाकुलमतेर्धनार्थितया
कृष्यादिपरिक्लेशमालक्षयति--

यत्कन्द्रर्पवशगतो विलसति स्वैर स्वदारेष्वपि
प्रयोहयुरितस्ततः कटु ततस्तुग्धाटको धावति ।
अप्यन्यायशत विधाय नियमाद भर्तुं यमिध्दाग्रहो
वर्धिष्णावा द्रविणाशया गतवयाः कृष्यादिभिः प्लुष्यते ॥७१॥

यौवनकी निन्ददा करते है--

माता-पिताके सैकडो मिथ्या मनोरथोके साथ कि बडा होनेपर यह पुत्र हमारे लिए अमुक-अमुक
कार्य करेगा, युवावस्थांको प्राप्त करकेकुमार्गगामी हो जाता है और कही यह ऐसे दुर्व्यसनोमे न पड जाये
जिनमेसे इसका निकलना अशक्य हो इस आशकासे दुःखीमन माता-पिकाकी दुःखज्वालाओको बढाता
हुआ कामके तीव्रवेगसे पीडित होकर ऐसे निन्दनीय कर्मोको करता है जिससे प्रतिष्ठित माता-पिताको
क्लेश होता है । तथा वह स्वयं समाज और राजाकेद्वारा दिये गये दण्डोसे दुःखी होकर नरकादि दुर्गतिमे
जाता है ॥६९॥

जो युवावस्थांमे भी निर्वीकर रहते है उनकी प्रशसा करते है--

युवावस्थां एक भयंकर समद्रके समान है । उसमे कामरु पी बडवाग्नि सदा जलती रहती हे,
बलवीर्य-रूप खारा जल उमडा करता हे, निरकुश इन्द्रियरु पी बडे-बडे जलचर विचरते है,
अभिमानरु पी लहरे उठा करती है । समुद्र दोषाकर अर्थात चन्द्रमाकी संगति पाकर उफनता है, जवानी
दोषाकर अर्थत दुर्जनकी संगति पाकर उफनती है । जिन्होने धनकी तरह धर्म, यश और सुखको अपने
अधीन करकेइस धोर जवानीरु पी समुद्रको पार कर लिया वे पुरुष धन्य है ॥७०॥

युवावस्थांकेपश्चात आनेवाली मध्य अवस्थांकी ग्यारह पद्योसे निन्दा करते हुए सर्वप्रथम सन्तानके
पालनकेलिए व्याकुल गृहस्थ धनकेलिए जो कृषि आदि करता है उसकेकष्टोको कहते है--

अहंयुः--साहडकारः । तुग्धाटक्--अपत्यधाटी । अपि इतयादि । तिंहि बाहयाः--

घृध्दौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः ।
अप्यन्यायशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥७१॥ [मनु. ११। १]

अथ कृषि-पशुपालय-वाणिज्याभ्रुि भयलोकभ्रश दर्शयति--

यत संभूय कृषीबलैः सह पशुप्रायैः खरं खिद्यते
यद व्यापत्तिमयान पशूनवति तददेह विशन योगिवत ।
यन्मुष्णाति वसून्यसूनिव ठकक्रूरो गुरु णामपि
भ्रान्तस्तेन पशूयते विधुरितो लोकध्दयश्रेयसः ॥७२॥

संभूय--मिलित्वा । विधुरितः--वियोजतः ॥७२॥

अथ धनलुब्धस्य देशानतरवाणिज्यं निन्दति--

यत्र तत्र गृहहिण्यादीन मुक्त्वापि स्वन्यनिर्दयः ।
न लडयति दुर्गाणि कानि कानि धनाशया ॥७३॥

यत्र तत्र--अपरीक्षितेपि स्थाने । स्वः--आत्मा । अन्यः--सहापश्वादिः ॥७३॥

जो सन्तान प्रायः अहंकारमे आकर जिस-तिस स्वार्थमे अनिष्ट प्रवृत्ति करती है और कामके वश होकर अपनी धर्मपन्तीमे भी स्वच्छन्दतापूर्वक कामकीडा करती है उसी सन्तानका अवश्य पालन करनेके लिए अति आग्रही होकर मध्य अवस्थावाला पुरुष बढ़ती हुई धनकी तृष्णासे सैकड़ो अन्याय करके भी कृषि आदि कर्मसे खेदखिन्न होता है ॥७१॥

आगे कहते हैं कि कृषि, पशुपालन और व्यापार आदिसे दोनो लोक नष्ट होता है--

यतः वह मध्यावस्थावाला पुरुष पशुके तुल्य किसानोके साथ मिलकर अत्यंत खेदखिन्न होता है और जैसे योगी योग द्वारा अन्य पुरुषके शरीरमे प्रवेश करता है वैसे ही वह पशुओके शरीरमे धुसकर विविध आपत्तियोसे ग्रस्त पशुओकी रक्षा करता है । तां ठगके समान क्रूर वह मनुष्य गुरु जनोके भी प्राणोके तुल्य धनको चुराता है इसलिए वह विपीरतमति इस लोक तथा परलोकके कल्याणसे वंचित होकर पशुके समान आचरा करता है ॥७२॥

विशेषार्थ--यहाँ खेती, पशुपालन और व्यापारके कष्टो और बुराइयोको बतलाया है । तथा खेती करनेवाले किसानोको पशुतुल्य कहा है । यह कथन उस समयकी स्थितिकी दृष्टिसे किया गया है । आज भी गरीब किसानोकी दशा, उनका रहन-सहन पशुसे अच्छा नहीं है । दूसरी बात यह है कि वे पशुओको कष्टको अपना ही कष्ट मानते थे तभी तो पशुओके शरीरमे प्रवेश करनेकी बात कही है । तीसरी बात यह है कि व्यापारी उस समयमे भी अन्याय करनेसे सकुचाते नहीं थे । दूसरोकी तो बात ही क्या अपने गुरु जनोके साथ भी छलका व्यवहार करके उनका धन हरते थे । ये सब बातें निन्दनीय हैं । इसीसे इन कामोंकी भी निन्दा की गयी है ॥७२॥

आगे धनके लोभसे देशन्तरमे जाकर व्यापार करनेवालेकी निन्दा करते हैं--

अपनी पत्नी, पुत्र आदिको यहाँ-वहाँ छोडकर या साथ लेकर भी धनकी आशासे यह मनुष्य किन वन, पहाड, नदी वगैरहको नही लॉधता और इस तरह अपनेपर तथा अपने परिजनोपर निर्दय हो जाता है, स्वयं भी कष्ट उठाता है और दूसरोको भी कष्ट देता है ॥७३॥

अथ वृध्दयाजी-(वं) निन्दति--

वृध्दिलुब्ध्याधर्मणेषु प्रयुजयार्थान सहासुभिः ।
तदापच्छडितो नित्यं चित्र वार्धुषिकश्चरेत ॥७४॥

वृध्दिलुब्ध्या--कालान्तरलोभेन । अधर्मणषु--धारणिकेषु ॥७४॥

अथ सेवा गर्हते--

स्वे सदवृत्तकुलश्रुते च निरनुक्रेशीकृतस्तृष्णया
स्वं विक्रीय ध्नेश्वरे रहितवीचारस्तदाज्ञावशात् ।
वर्षादिष्वपि दारु णेषु निविडध्वान्तासु रात्रिष्वपि
व्यालोग्रास्वटवीष्वपि प्रचरति प्रत्यन्तक यात्यपि ॥७५॥

स्वे--आत्मनि । व्यालोग्रासु--श्वापदभुजरौद्रासु । प्रयन्तक--यमाभिमुत्तम ॥७५॥

अथ कारु कर्मादीन प्रतिक्षिपति--

चित्रैः कर्मकलाधर्मैः परासूयापरो मनः ।
हर्तुं तदर्थिना श्राम्यत्यार्तपोश्येक्षितायनः ॥७६॥

चित्रैः--नाना प्रकारैराख्यकरैवी । धर्मो--मूल्येन पुस्तकवाचनादिः । आर्तपोश्येक्षितायनः--
क्षुधदिपीडिते (त) कलत्रापत्यादिगवेषितमार्गः ॥७६॥

आगे व्याजसे आजीविका करनेवालोकी निन्दा करते है--

आश्चर्य है कि ब्याजसे आजीविका करनेवाला सुदखोर ब्याजके लोभसे ऋण लेनेवालोको अपने प्राणोके साथ धन देकर सदा उसकी आपत्तियोसे भयभीत रहकर प्रवृत्ति करता है । अर्थात् ऋणदाताको सदा यह भंय सताता रहता है कि ऋण लेनेवालेपर कोई ऐसी आपत्ति न आ जाये जिससे उसका ऋण मारा जाये । और यहाँ आश्चर्य इस बातका है कि व्याजके लोभीको धन प्राणोके समान प्रिय होता है । वह धन दूसरेको दिया तो मानो अपने प्राण ही दे दिये । किन्तु दूसरोको अपने प्राण देनेवाला तो प्रवृत्ति नही कर सकता क्योकि वह निष्प्राण हो जाता है किन्तु ऋणदाता प्राण देकर भी प्रवृत्तिशील रहता है ॥७४॥

आगे सेवाकर्मकी निन्दा करते है--

अपने पर और अपने सदाचार कुल तथा शास्त्रज्ञानवपर निर्दय होकर लोभवंशं सेठ राजा आदिको अपनेको बेचकर योग्य-अयोग्यका विचार छोडकर मनुष्य अपने स्वामीकी आज्ञासे भयानक वर्षा आदिमे भी जाता है, धने अन्धकारसे आच्छन्न रात्रि भी विचरण करता है, भयानक जंगली जन्तुओसे भंरे हुए बियाबान जंगलमे भी धूमता है, अधिक क्या, मृत्युकेमुखमे भी चला जाता है ॥७५॥

आगे शिल्पकर्म आदि करनेवालोकी निन्दा करते है--

शिल्प आदिसे आजीविका करनेवाला पुरु श शिल्पप्रेमी जानोके मनको हरनेके लिए उनके सामने अन्य शिल्पियोकी निन्दा करता है । उनकेशिल्पमे दोश निकलता है और अनेक प्रकारकेकर्म, कला और धर्मकेनिर्माणका श्रम उठाता है क्योकि भूखसे पीडित उसकेस्त्री-पुत्रादि उसका रास्ता देखते है ।

विशेषार्थ--लकडीके कामको कर्म कहते है, गीत नृत्य आदिको कला कहते है और मूल्य लेकर पुस्तकवाचन आदि करनेको धर्म कहते है ॥७६॥

अथ कारु कदुरवस्थाः कथयति--

आशावान गृहजनमुत्तमर्णमन्यानप्याप्तैरिव सरसो धनैर्धिनोति ।

छिन्नाशो विलपति भ्रालमाहते स्वं द्वेष्टीष्टानपि परदेशमप्युपैति ॥७७॥

उत्तमर्ण--धनिकम । अन्यान--सम्बन्धिसुहादादीन । आहते--ताडयति ॥७७॥

अथासौ देशेपि धनाशया पुन- खिद्यत--त्यहइस्पष्टम ॥७८॥

आशया जीवति नरो न ग्रन्थावपि बध्दया ।

पच्चाशतेतयुपायज्ञस्तामम्यतयर्थाशया पुनः ॥७८॥

अथ इष्टलाभेपि तृष्णानुपरति दर्शयति--

कथं कथमपि प्राप्य किचिदिष्टं विधेर्वशांत ।

पश्यन दीन जगद विश्वपधौशितुमिच्छति ॥७९॥

अधीशितु--स्वाधीना कर्तुम ॥७९॥

अथ साधितधनस्यापरापरा विपदो दर्शयति--

दायादाद्यैः क्रूरमावर्त्यमानः पुत्राद्यैर्वा मृत्युना छिद्यमानः ।

रोगाद्यैर्वा बाध्यमानो हताशो दुदैवस्य स्कन्धक धिग बिभीर्ति ॥८०॥

आवर्त्यमान--लडधनादिना कदर्थ्यमानः । छिद्यमानः--वियुज्यमानः । स्कन्धक--कालनियमेन
देयमाम ॥८०॥

शिल्पियोकी दुरवस्थां बतलाते है--

मुम्पे अपने शिल्पका मूल्य आज या कल मिल जायेगा इस आशासे हर्षित होकर शिल्पी मानो धन हाथमे आ गया है इस तरह अपने परिवारको, साहूकारको तथा दूसरे भी सम्बन्धी जानोको प्रसन्न करता है । और निराश होनेपर रोता है, अपने मस्तकको ठोकता है, अपने प्रिय जनोसे भी लडाई-झगडा करता है तथा परदेश भी चला जाता है ॥७७॥

आगे कहते है कि वह परदेशमे भी धनकी आशासे पुनः खिन्न होता है--

घमनुष्य आशासे जीत है, गौठमे बँधे हुए सैकडो रू पयोसे नही,इस लोकोत्थितके अनुसार जीविकाके उपायोको जाननेवाला शिल्पी फिर भी धनकी आशासे खिन्न होता है ॥७८॥

आगे कहते है कि इष्ट धनकी प्राप्ति होनेपर भी तृष्णा शान्त नही होती--

पूर्वकृत शुभंकर्मके योगसे जिस किसी तरह महान कष्टसे कुछ इष्टकी प्राप्ति होनेपर वह जगतको अपनेसे हीन देखने लगता है और समस्त विश्वको भी अपने अधीन करनेकी इच्छा करता है ॥७९॥

धन प्राप्त होनेपर आनेवाली अन्य विपत्तियोको कहते है--

धन सम्पन्न होनेपर मनुष्यको धनके भंगीदार भाँई-भंतीजे बुरी तरह सताते है अथवा मृत्युआकर पुत्रादिसे उसका वियोग करा देती है या रोगादि पीडा देते है । इस तरह वह अभांगा दुर्दैवके उस ऋणको लिये फिरता है जिसे नितय समयपर ही चुकाना होता है ॥८०॥

अथ मध्यवयसो विपद्धिररति जीवितोपरचित (--तोपरति च) निरू पयति--

पिपीलिकाभिः कृष्णाहिरिवापद्धिर्दराशयः ।

दंश्यमानः क रति यातु जीवतु वा कियत ॥८१॥

दंश्यमानः--गर्हित खा.मानः ॥८१॥

अथ पलितोद्धवदुःखमालक्षयति--

जराभुंजडीनिर्मोक पलित वीक्ष्य वल्लभाः ।

यान्तीरू ध्देगमुत्पश्यन्नप्यपैत्योजसोवहम ॥८२॥

निर्मोकः--कच्चुकः । वीक्ष्य--अन्न यान्तीरित्युत्पश्यन्निति वापेक्ष्य उत्पश्यन--उत्प्रेक्षमाणः ।

ओजसः--शुक्लतर्धातुपरमतेजसः । तर्प्ययश्च प्रियाविरागदर्शनात् । तथा चोक्तम--

घञोः क्षीयेत कोपक्षुदध्यानशोकश्रमादिभिः ॥८२॥

अथ जरानुभवं भवयति--

विस्त्रसोहिका देहवन नणां याथा याथा ।

चरन्ति कामदा भावा विशीर्यन्ते तथा तथा ॥८३॥

विश्रसा--जरा ॥८३॥

अथ जरातिव्याप्ति चिन्तयति--

मध्यम अवस्थावाले मनुष्यको विपत्तियोंके कारण होनेवाली अरति और जीवनसे अरु चितको बतलाते है--

चीटियोंसे बुरी तरह खाये जानेवाले काले सर्पकी तरह विपत्तियोंसे सब आरासे धिरा हुआ दुःखी मनुष्य किससे तो प्रीति करे और कबतक जीवित रहे ? ॥८१॥

सफेद बालोको देखकर होनेवाले दुःखको कहते है--

वृद्धावस्थारू पी सर्पिणीकी केचुलीके समान सफेद बालोको देखकर विरक्त होनेवाली प्रिय पत्तियोंका स्मरा करकेही बुढापेकी ओर जानेवाला मनुष्य दिनोदिन ओजसे क्षीण होता है ॥८२॥

विशेषार्थ--कहा भी है--कोप, भूख, ध्यान, शोक और श्रम आदिसे ओज क्षीण होता है । वैद्यक शास्त्रके अनुसार ओज शरीरके धातुरसको पुष्ट करता है ॥८२॥

बुढापेका प्रभाव बतलाते है--

मनुष्योके शरीररू पी उद्यानको बुढापारू पी दीमक जैसे-जैसे खाती है वैसे-वैसे उसके कामोद्दीपक भव स्वयं ही नष्ट हो जाते है । अर्थात् यह शरीर उद्यानके समान है उद्यानकी तरह ही इसका पालन-पोषण यत्नसे किया जाता है । जैसे उद्यानको यदि दीमके खाने लगे तो बगीचा लगानेवालेके मनोरथोको पूरा करनेवाले फल-फूल सब नष्ट हो जाते है वैसे ही बुढापा आनेपर मनुष्यके कामोद्दीपक भाव भी स्वयं ही नष्ट हो जाते है ॥८३॥

बुढापेकी अधिकताका विचार करते है--

प्रक्षीणान्तःकरणकारणो व्याधिभिः सुष्टविवाधि-

स्पधर्दाद्यग्धः परिभ्वपदं याप्यकम्प्राक्रियाडः ।

तृष्णेष्यद्यैर्विलगितगृहः प्रस्खलदद्विन्नदन्तो

ग्रस्येताध्दा विरस इव न श्राध्ददेवेन वृध्दः ॥८४॥

इवाधिस्पधर्दात--मनोदुःखसंहर्षादिव । याप्यानि--कुत्सितानि । विलगितगृहः--
उपतप्तकलत्रादिलोकः । अध्दा--झगिति । श्राध्ददेवेन--यमेन क्षयार्हभोज्येन च ॥८४॥

अथ तादृग दुष्टमपि मानुषत्वं परमसुखधर्माडत्वेन सर्वोत्कृष्ट विदध्यादिति शिक्षयति--

बीजक्षेत्राहरणजननद्वाररू पाशुचीदृग-

दुःखकीर्ण दुरसविविधप्रतययातर्क्यमृत्यु ।

अल्पाग्रायुः कथमपि चिराल्लब्धमीदृग परत्वं

सर्वोत्कृष्ट विमलसुखकृधर्मसिध्दयैव कुर्यात् ॥८५॥

बीज--शुक्रवर्म । क्षेत्र--मातृगर्भः । आहरण--मातृनिर्गणमन्नपानम । जननद्वार--रजःपथः ।
रू प--दोषद्यात्मकत्वसदातुरत्वम । ईदृगदुःखानि--गर्भादिवाध्दिक्यान्तबाधाः । दुरसः--दुर्निवारः ।
विविधाः--व्याधियशस्त्रानिपातादयः । पत्ययाः--कारणानि । अल्पाग्रायुः--अल्पं स्तोकमग्र परमायुर्यत्र । इी
हीदानी मनुष्याणामुत्कर्षेणापि विश वर्षशतं जीवितमाहुः । ईदृकइसज्जातिकुलाद्यपेतम ॥८५॥

अथ बीस्य (जीवस्य) त्रस्यत्वादि (त्रसत्वादि) यथोत्तरदुर्लभत्वं चिन्तयति--

जिसका मन और इन्द्रियोँ विनाशके उन्मुख है, मानसिक व्याधियोकी स्पर्धासे ही मानो जिसे
शारीरिक व्याधियोने अत्यन्त क्षीण कर दिया है, जो सबके तिरस्कारका पात्र है, जिसके हाथ-पैर आदि
अंग बुरी तरहसे काँपते है और अपना काम करनेमे असमर्थ है, अतिलोभी, क्रोधी आदि स्वभावके कारण
परिवार भी जिससे उकता गया है, मुँहमे दो-चार दाँत शेष है किन्तु वे भी हिलते है, ऐसे वृध्द पुरु षको
मानो स्वादरहित होनेसे मृत्यु भी जल्दी नही खाती ॥८४॥

इस प्रकार मनुष्यपर्याय बुरी होनेपर भी परम सुखके दाताधर्मका अंग है इसलिए उसे सर्वोत्कृष्ट
बनानेकी शिक्षा देते है--

इस मनुष्य शरीरका बी रज और वीर्य है, उत्पत्तिस्थान माताका गर्भ है, आहार माताकेद्वारा खाया
गया अन्न-जल है, रज और वीर्यका मार्ग ही उसके जन्मका द्वार है, वातपित्त-कफ-धातु उपधातु ही
उसका सवरू प है, इन सबके कारा वह गन्दा है, गर्भसे लेकर मरा पर्यन्त दुःखोसे भरा हुआ है, व्याधि,
शस्त्राघात, वज्रपात आदि अनेक कारणोसे आकस्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है, तथा इसकी उत्कृष्ट आयु
भी अति अल्प अधिक से अधिक एक सौ बीस वर्ष कही है । समीचीन धर्मके अंगभूत जाति-कुल आदिसे
युक्त यह ऐसा मनुष्य भूव भी चिरकालके बाद बडे कष्टसे किसी तरह प्राप्त हुआ है । इसे विमल अर्थात्
दुःखदायी पापके संसर्गतसे रहित सुखके दाता धर्मका साधन बनाकर ही देवादि पर्यायसे भी उत्कृष्ट
बनाना चाहिए ॥८५॥

आगे जीवको प्राप्त होनेवाली त्रसादि पर्यायोकी उत्तरोत्तर दुर्लभताका विचार करते है--

जगत्यननैकहषीकसंकुले त्रसत्व-संज्ञित्व-मनुष्यतार्यताः ।

सुगोत्रसदगात्रविभूतिवार्तता सुधीसुधमाश्च यथाग्रदुर्लभाः ॥८६॥

वार्तता--अरोग्यम ॥८६॥

स ना स कुल्यः स प्राज्ञः स बलश्रीसहायवान ।

स सुखी चेह चामुत्र यो नित्य धर्ममाचरेत ॥८७॥

स्पष्टम् ॥८७॥

अनन्त एकेन्द्रिय जीवोसे पूरी तरहसे भ्रंरे हुए इस लोकमे त्रसपना, संज्ञिपना, मनुष्यपना, आर्यपना, उत्तमकुल, उत्तम-शरीर, सम्पत्ति, आरोग्य, सदबुद्धि और समीचीन धर्म उत्तरोत्तर दुर्लभ है ॥८६॥

विशेषार्थ--इस लोकमे यह जीव अपने द्वारा बाँधे गये कर्मके उदयसे बार-बार एकेन्द्रिय होकर किसी तरह दो-इन्द्रिय होता है । दो-इन्द्रिय होकर पुः एकेन्द्रिय हो जात है । इस प्रकार एकेन्द्रियसे दो-इन्द्रिय होना कठिन है, दो इन्द्रियासे तेइन्द्रिय होना कठिन है, तेइन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय होना कठिन है, चतुरिन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, असंज्ञी पंचेन्द्रियसे संज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, संज्ञी पंचेन्द्रियोमे भी मनुष्य होना कठिन है । मनुष्योमे भी आर्य मनुष्य होना कठिन है । आर्य होकर भी अच्छा कुल, अच्छा शरीर, सम्पत्ति, नीरोगता, समीचीन बुद्धि और समीचीन धर्मका लाभ उत्तरोत्तर दुर्लभ है । सर्वार्थसिद्धी और तत्त्वार्थराजवार्तिक (अ. ९।७) मे बोधिदुर्लभ भावनाका स्वरूप इसी शैली और शब्दोमे बतलाया है । अकलंकदेवने लिखा है--आगममे एक निगोद शरीरमे सिद्धराशिसे अनन्त गुणे जीव बतलाये है । इस तरह सर्व लोक स्थवर जीवासे पूर्णतया भरा है । अतः त्रसपर्यय रेगिस्तनमे गिरी हुई हीरेकी कनीक समान मिलना दुर्लभ है । त्रसेमे भी विकलेन्द्रियोका आधिक्य है अतः उसमे पंचेन्द्रियपना प्राप्त हेना गुणोमे कृतज्ञना गुणकी तरह कठिन है । पंचेन्द्रियेमे भी पशु, मृग, पक्षी आदि तिर्यचोकी बहुलता है । अतः मनुष्यपर्यय वैसी ही दुर्लभ है जैसे सिी चैराहे पर रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है । मनुष्यपर्याय छूटनेपर पुनः उसका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे किसी वृक्षको जला डानेपर उसकी राखका पुनः वृक्षरूप होना मनुष्यपर्याय भी मिली किन्तु हित-अहितके विचारसे शून्य पशुके समान मनुष्योसे भरे हुए कुदेशोका बाहुलय हेनेसे सुदेशका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे पाषाणेमे मणि । सुदेश भी मिला तो सुकुले जन्म दुर्लभ है क्योंकि संसार पापकर्म करनेवाले कलोसे भरा है । कुलके साथ जाति भी प्रयाः शील, विनय और अचारको करनेवाली होती है । कुल-सम्पत्ति मिल जानेपर भी दीघार्यु, इन्द्रिय, बल, रू, नीरोगता वगैरह दुर्लभ है । उन सबके मिलनेपर भी यदी समीची धर्मक लाभ नी होता तो जन्म व्यर्थ है ॥८६॥

आगे धर्मका आचरा करनेमे नित्य तत्पर रहने की प्रेरणा करते है--

जो परुष सदा धर्मका पालन करता है वही पुरुष वस्तुतः पुरुष है, वही कुलीन है, वही बुद्धिशाली है, वही बलवान, श्रीमान और सहायवान है, वही इस लोक और परलोकमे सुखी है अर्थात् धर्मका आचरण न करनेवाले दोनो लोकामे दुःखी रहते है ॥८७॥

अथ धर्मारजनविमुखस्य गुणान प्रतिक्षिपति--

धर्म श्रुति-स्मृति-स्तुतिसमर्थनाचरणचारणानुमतैः ।

यो नार्जयति कथंचन कि तस्य गुणेन केनापि ॥८८॥

स्पष्टम् ॥८८॥

ननु लोकादेवागम्य धर्मशब्दार्थोनुष्ठस्यते तत्कि तदर्थप्रतिपादनाय शास्त्रकराप्रयासेनेति वदन्त
प्रत्याह--

लोके विषामृतप्रख्यभांवार्थः क्षीरशब्दवत् ।

वर्तते धर्मशब्दोपि तत्तदर्थोनुशिष्यते ॥८९॥

भांवः--अभिघेय वस्तु ॥८९॥

अथ धर्मशब्दार्थ व्यक्तीकरोति--

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररू पा स च स्वां

सामग्री प्राप्य मियारू चिमतिचरणाकारसंक्लेशरू पम ।

मूल बन्धस्य दःखप्रभवफलस्यावधुन्वन्धर्म

संजातो जन्मदुःखाधरति शिवसुखे जीवमितयुच्यतेर्थात् ॥९०॥

जो पुरु ष धर्मसे विमुख रहता है उसके गुणोका तिरस्कार करते है--

जो पुरुष श्रुति, स्मृति, स्तुति और समर्थना इनमे-से भी उपायके द्वारा किसी भी तरहसे स्वयं आचरण करके या दूसरोसे कराकर या अनुमोदनाके द्वारा धर्मका संचय नही करता उसके अन्य किसी भी गुणसे क्या लाभ है ॥८८॥

विशेषार्थ--धर्मके अनेक साधन है । गुरु आदिसे धर्म सुनना श्रुति है । उसे स्वयं स्मरण करना स्मृति है । धर्मके गुणोका बखान करना स्तुति है । युक्ति पूर्वक आगमके बलसे धर्मका समर्थन करना समर्थन है । स्वयं धर्मका पालन करना आचरण है । दूसरोसे धर्मका पालन कराना चरण है । और अनुमोदना करना अनुमत है । इस प्रकार कृत कारित अनुमोदनो द्वारा श्रुति, स्मृति, स्तुति, समर्थना पूर्वक धर्मकी साधना करनी चाहिए । इनमेसे कुछ भी न करके धर्मसे विमुख रहनेसे रहनेसे मनुष्यपर्याय, सुकुल, सुदेश, सुजाति आदिका पाना निरर्थक है ॥८८॥

धर्म शब्दका अर्थ लोगोसे ही जानकर उसका आचरण किया जा सकता है । तब उसके अर्थको बतलानेकेलिए शास्त्ररचना करनेका श्रम उठाना बेकार है । ऐसा कहनेवाले को उत्तर देते है--

जैसे लोकमे क्षीर शब्दसे विषतुल्य अर्क आदि रस और अमृततुल्य गोरस अर्थ लिया जाता है वैस ही धर्म शब्दसे भी विषतुल्य दुर्गतिके दुःखको देनेवाला हिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है और

अमृततुल्य अहिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है। इसलिए उसमें भेद बतलानेके लिए धर्म शब्दका उपदेश परम्परासे आगत अर्थ कहते हैं ॥८९॥

आगे धर्मशब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं--

जीवकी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप विशुद्धिको धर्म कहते हैं। और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप संक्लेशपरिमाणामको अधर्म कहते हैं। वह अधर्म उस पुण्य-पापरूप बन्धका कारण है जिसका फल दुःखदायक संसार है। जीवकी

पुंसो विशुद्धिः--जीवस्य विशुद्धिपरिणामः। तथा चोक्तम्--

भ्रातृविसुद्धयः अप्पणु धम्म भणविणु लेहु।

चउगइदुक्खहि जो धरइ जीउ पडंतउ एउ ॥

[पर. प्र. २।६८।]

सामग्री--बाह्येतकारणकलाप सध्दयान वा। तदुक्तम्--

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते ध्दिविधोपि।

तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम ॥

[तत्त्वानुशासन--३३]

विशुद्धि रूप वह धर्म अधर्मका पूरी तरहसे हटाते हुए अपनी अन्तरंग बरिग कारण रूप सामग्रीको प्राप्त करके जब आयोगकेवली नामक चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमें सम्पूर्ण होता है तब जीवको संसारके दुःखोंसे उठाकर मोक्षसुखमें धरता है इसलिए उसे परमार्थसे धर्म कहते हैं ॥९०॥

विशेषार्थ--धर्म शब्द जिस घृष्ट धातुसे बना है उसका अर्थ है धरना इसलिए धर्म शब्दका अर्थ होता है--जो धरता है वह धर्म है। किसी वस्तुको एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रखनेको धरना कहते हैं। धर्म भी जीवको संसारके दुःखोंसे उठाकर मोक्षसुखमें धरता है इसलिए उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। किन्तु धरना तो एक क्रिया है। क्रिया तो परमार्थसे धर्म या अधर्म नहीं होती। तब परमार्थ धर्म क्या है? परमार्थ धर्म है आत्माकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निर्मलता। दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके गुण हैं। जब ये विरपीरत रूप होते हैं तब इन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। उनके होनेसे आत्माकी परिणति संक्लेशरूप होती है। उससे ऐसा कर्मबन्ध होता है जिसका फल अनन्त संसार है। किन्तु जब मूढता आदि दोषोंके दूर होनेपर दर्शन सम्यग्दर्शन होता है, संशय आदि दोषोंके दूर होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और मायाचार आदिके दूर होने पर चारित्र सम्यक्चारित्र होता है तब जो आत्मामें निर्मलता होती है वही वस्तुतः धर्म है। ज्यो ज्यो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्णताकी ओर बढ़ते जाते हैं त्योत्ये निर्मलता बढ़ती जाती है और ज्यो ज्यो निर्मलत बढ़ती जाती है त्यो त्यो सम्यग्दर्शनादि पूर्णताक

ओ बढते जाते है । इस तरह बढते हुए जब जी मुनिपद धारण करक अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर अयोगकेवलि नामक चौदहवे गुणसानके अन्तिम समयमे पहुँचता है तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र पूर्ण होते है और तत्काल ही जीव संसारसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है । परमात्मप्राकशमे कहा है--

ध्आत्माका मिथ्यात्व रागादिसे रहित विशुद्ध भाव ही धर्म है ऐसा मान कर उसे स्वीकार करो । जो संसारमे पडे हुए जीवको उठाकर मोक्षमे धरता है । इसकी टीकामे ब्रम्हदेवने लिखा है--यहो धर्म शब्दसे निश्चयसे जीवका शुद्ध परिणाम ही लेना चाहिए । उसमे वीतराग सर्वज्ञके द्वारा रचित नयविभागसे सभी धर्मोका अन्तर्भाव होता है । उसका खुलासा इस प्रकार है--धर्मका लक्षण अहिंसा है । वह भी जीवे शुद्ध भावके विना सम्भव नही है । गृहस्थ और मुनिधर्मरू प धर्म भी शुद्ध भावके बिना नही होता । उत्तम क्षमा आदि रू प दस प्रकारका धर्म भी जीवके शुद्ध भावकी अपेक्षा रखता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

मिथ्या वैपरीत्येभावे च । दुःखपभवः--दुःख पभ्वत्यस्मादस्मिन्वा भावे (भवे) । संजातः-- अयोगिचरमसमये संपूर्णीभूतः । जन्मदुःखातस्संसारक्लंशादुदधृत्य । अर्थात् अभिधेय परमार्थ वाश्रित्य ॥९०॥

अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणनिर्देशपुरस्सर मोक्षस्य संवरनिर्जरयोर्बन्धस्य च कारण निरूपयति--

मिथ्यार्थानिवेशशून्यमभवत् संदेहमोहभ्रम

वान्ताशेषकषयकर्मभिदुदासीन च रूप चित्तः ।

तत्त्व सदृगवायवृत्तमयन पूर्ण शिवस्यैव तद

रूपे न्द्रे निर्जरयत्यपीतरदद्यं बन्धस्तु तदयत्ययात् ॥९१॥

और सम्यक चारित्र रूप धर्म भी शुद्धभावरूप ही है । रागद्वेष मोह रति परिणमको धर्म कहा है, वह भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही है । वस्तुके स्वभावको धर्म कहा है । वह भी जीवका शुद्धस्वभाव ही है । इस प्रकारका धर्म चारो गतिके दुःखामे पडे हुए जीवको उठाकर मोक्षमे धरता है ।

प्रश्न--आपने पहले कहा था कि शुद्धोपयोगमे संयम आदि सब गुण प्राप्त होते है । यहाँ कहते है कि आत्माका शुद्ध परिमाण ही धर्म है उसमे सब धर्म गर्भित है । इन दोनोमे क्या अन्तर है--

समाधान--यहाँ शुद्धोपयोग संज्ञाकी मुख्यता है और यहाँ धर्म संज्ञा मुख्य है--इतना ही विशेष है । दोनोके तात्पर्यमे अन्तर नही है । इसलिए सब प्रकारसे शुद्धपरिणाम ही कर्तव्य है । धर्मकी इस अवस्थाकी प्राप्तिमे ध्यानको प्रमुख कारण बतलाया है । कहा भी है कि ध्यानमे दोनो ही प्राकरके मोक्षके कारण मिल जाते है अतः आलस्य छोडकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥९१॥

नश्चयरत्नत्रयके लक्षणके निर्देशपूर्वक मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धके कारा कहते है--

मिथ्या अर्थात् विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थको मिथ्या अर्थ कहते है । और सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या अर्थके आग्रहके मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते है । उससे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय

सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा जिसके उदयसे मिथ्या अर्थका आग्रह होता है ऐसे दर्शनमोहनीयकर्मको भी मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते हैं। उस दर्शनमोहनीय कर्मसे रहित आत्माका स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह स्थाणु (दूटं) है या पुरुष इस प्रकारके चंचल ज्ञानको सन्देह कहते हैं उसे माह कहते हैं। चलते हुए पैरको छूनेवाले तृण आदिके ज्ञानकी तरह पदार्थका जो अनध्यवसाय होता है उसे मोह कहते हैं। जो वैसा नहीं है उसे उस रूपमे जानना--जैसे दूटको पुरुष जानना--भ्रम है। इन सन्देह मोह और भ्रमसे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। क्रोधादि कषाय और हास्य आदि नोकषायो से रहित, ज्ञानावरण आदि कर्म और मन वचन कायके व्यापार रूप कर्मको नष्ट करनेवाला

१२ दुविह पि मोक्खेत्तु ज्ञाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूय ज्ञाण समब्भसह ॥--द्रव्य संग्रह ४७ ।
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि ।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपालस्यम ॥--तत्वानुशा. ६३ श्लो. ।

संदेहः--स्थाणुर्वा पुरुषो वेति चलिता प्रतीतिः । मोः--गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत पदार्थनध्यवसायः ।
भ्रमः अतस्मिस्तदिति ग्रहणं स्थाणौ पुरुषज्ञानवत । कर्मभित--ज्ञानावरणादि कर्मदेदि
मनोवाक्कायव्यापारनिरोधि वा । तथा चोक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके-

घमिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्ट हि दर्शनम ।
ज्ञानत्व चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता ॥६
[त. श्लो. १-५४]

चित्तः--चेतनस्य । तत्त्व--परमार्थरूपम । सदृगवायवृत्तइसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मियित्यादिना
क्रमेणोक्तलखणम । संहतिप्रधाननिर्देशात्तत्त्वयम आत्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इति लक्षयति । तदुक्तम--

घणिच्छयणएण भाओ तिहि समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण गहदि किचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गो ति ॥६
[पच्चारि. १६१ गा.]

आत्माका उदासीन रूप निश्चय सम्यकचारित्र है। पूर्ण अवस्थामे होने पर तीनों मोक्षके ही मार्ग है। किन्तु व्यवहाररूप तथा अपूर्ण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र अशुभकर्मको रोकता भी है और एक देशसे क्षय भी करता है। परन्तु मियादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बन्ध होता है

॥९१॥

विशेषार्थ--ऊपर निश्चयरत्नत्रयके लक्षणके साथ मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धका कारण कहा है । मिथ्या अर्थके आग्रहसे रति आत्मरूपको अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है उस दर्शन मोहनीय कर्मसे रति आत्मरूपको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं । तथा संशय, विपर्यय और मोहसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं । तथा समस्त कषायोसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे कहा है--

घ्नानका मिथ्या अभिमानसे पूरी तरहसे मुक्त होना सम्यग्दर्शन है । अर्थको यथार्थ रीतिसे जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मोका नाश सम्यक्चारित्र है"ये तीनों ही आत्मरूप होते हैं । इसलिए अमृतचन्द्राचार्यने आत्माके निश्चयको सम्यग्दर्शन, आत्माके परिज्ञानको सम्यग्ज्ञान और आत्मामे स्थितिको सम्यक्चारित्र कहा है । और ऐसा ही पद्यनन्दी पञ्चविंशतिका (४१४) मे कहा है ।

इनमेसे सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । समयसार गा. ३२० की टीकाके उपसंहारमे विशेष कथन करते हुए आचार्य जयसेनेन कहा है--जब काललब्धि आदिके योगसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूप निज परमात्मद्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्यायसे परिणत होता है । इस परिणमनको आगमकी भाषामे उसे शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि कहते हैं । सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तर्था अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशम,

अयनं--मार्गः । इतरत--व्यवहारूपमपूर्ण च । तद्व्यत्ययात--मिथ्यादर्शनादित्रयात । तथा चोक्तम--

घ्नत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।

आस्त्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगस्य सोयमपराधः ॥६

[पुरु षार्थ. २२०]

क्षय अथवा क्षयोपशमसे होता है । यह आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है । इसीसे इसे आत्माका मिथ्या अभिनिवेशसे शून्य आत्मरूप कहा है । यह चौथे गुणस्थानके साथ प्रकट होता है । किन्तु कही-कही निश्चय सम्यग्दर्शनको वीतरागचारित्रका अविनाभावी कहा है इसलिए कुछ विद्वान चतुर्थ गुणस्थानमे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं मानते । टीकाकार ब्रम्हदेवने परमात्मपकाश (२१७) की टीकामे इसका अच्छा खुलासा किया है । आगममे सम्यक्त्व के दो भेद कहे हैं--इसराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन । प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदिसे अभिव्यक्तोने वाला सराग सम्यग्दर्शन है । उसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं । उसके विषयभूत छह द्रव्य हैं । वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण निज शुद्धात्माकी अनुभूति है वह वीतराग चारित्रका अविनाभावी है । उसीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं । ब्रम्हदेवजीके इस कथनपर शिष्य प्रश्न करता है कि निज शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रूप चिरूप निश्चय सम्यक्त्व है ऐसा आपने पहले बहुत बार कहा है अतः आप वीतराग चारित्रके अविनाभावीको

निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं यह पूर्वापरविरोध है। कारण--अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रू चिरु प निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामे तीर्थकर, भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, राम, पाण्डव आदिके विद्यमान था किन्तु उने वीतराग चारित्र नही था यह परस्पर विरोध है। यदि वीतराग चारित्र था तो वे असंयमी कैसे थे ? शिष्यकी इस शंकाके उत्तरमे ब्रम्हदेवजी कहते हैं--यद्यपि उनके शुद्धात्मा के उपादेयकी भावना रू प निश्चय सम्यक्त्व था कन्तु चारित्रमोहके उदयसे स्थिरता नही थी। अथवा व्रत प्रतिज्ञा भंग हानेसे असंयत कहे गये हैं (यह कथन तीर्थकरके साथ नही लगाना चाहिए) जब भरत आदि शुद्धात्माकी भावनासे च्युत होते थे तब निर्दोष परमात्मा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोका स्तवन आदि करते थे, उनके चरित पुराण आदि सुनते थे। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओको विषयकषायसे बचनेके लिए दान, पूजा आदि करते थे। अतः शुभरागके योगसे सरागसम्यग्दृष्टि होते थे। किन्तु उनके सम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व इसलिए कहा गया है कि वह वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वक परम्परासे साधक है। वास्तवमे वह सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व ही है। जिस तरह सम्यग्दर्शन आदिके दो प्रकार हैं उसी तरह मोक्षमार्गक भी दो प्रकार हैं-निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। उक्त तीन भावमय आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रकी पूर्णता अयेगकेवली नामक चौदहवे गुस्थानके अन्तिम समयमे होती है। उसके पश्चात ही मोक्ष हो जाता है अतः सम्पूर्ण रत्नत्रय मोक्षका ही मार्ग है। किन्तु अपूर्ण रत्नत्रय ? जब तक रत्नत्रय अस सम्पूर्ण रहता है नीचेके गुणस्थानोमे साधुके पुण्य पकृतियोंका बन्ध होता है तब क्या उससे बन्ध नही होता ? इसके समाधानके लिए पुरु षार्थ सि. के २११ से २२० श्लोक देखना चाहिए। उसमेसे आदि और अन्तिम श्लोकमे कहा है--

असमग्रं भ्रावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।

स विपक्षकृतोवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥

[पुरु षार्थ. २११] ॥११॥

एकदेश रत्नत्रयका भावन करनेसे जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत है क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नही हो सकता।

इस श्लोकका अर्थ कुछ विधदान इस रू पमे करते हैं कि असमगरत्नत्रयसे होनेवाला कर्मबन्ध मोक्षका उपाय है। किन्तु यह अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रके तथा जैन सिधन्तके सर्वथा विरु ध्द है। क्योंकि आगे वे कहते हैं--

इस लोकमे रत्नत्रय मोक्षका ही हेतु है, कर्मबन्धका नही। कन्तु एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्य कर्मका आस्त्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है। जिसे बन्ध अपराध कहा है वह मोक्षका उपाय कैसे हो सकता है।

व्यवहार रू प रत्नत्रयसे जो अपूर्ण होता है, अशुभकर्मका संवर और निर्जरा होती है। यहाँ अशुभ कर्मसे पुण्य और पाप दोनो ही लिये गये हैं क्योंकि सभी कर्म जीवके अपकारी होनेसे अशुभं कहे जाते हैं। निश्चयरत्नयी समग्रता तो चौदहवे गुणस्थानके अन्तमे ही होती है उसके होते ही मोक्ष हो जाता

है इसलिए उसे मोक्षका ही कारण कहा है। किन्तु उससे पहले जो असम्पूर्णा रत्नत्रय होता है उससे नवीन कर्मबन्धका संवर तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। पच्चास्तिकायके अन्तमे आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका कथन किया है और अमृतचन्द्राचार्यने दोनोमे साध्यसाधन भांव बतलाया है।

इसकी टीकामे कहा है--व्यवहार मोक्षमार्गके साध्यरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका यह कथन है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे समाति हुआ आत्मा ही जीव स्वभांवमे नियत चारित्र रूप होने से निख्ययसे मोक्षमार्ग है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है--यह आत्मा किसी प्रकार अनादि अविद्याके विनाशसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करता हुआ धर्मादि तत्त्वर्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान और अतपमे चेष्टाका उपादान करनेकेलिए अपने परिमाण करता है। किसी कारणासे यदि उपादेयका त्याग और त्यागने योग्यका ग्रहण हो जाता है तो उसका प्रतीकार करता है। ऐसा करते हुए विशिष्ट भांवनाके सौष्टवके कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके साथ अंग और अडिभांवरूप परिणतिके साथ एकमेक होकर त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य होनेसे परिणामोके व्यापारके रूप क जाने पर यह आत्मा निश्चल हो जाता है। उस समयमे यह ही आत्मा तीन स्वभावमे नियत चारित्र रूप होनेसे निश्चय मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस लए निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमे साध्य-साधन भाव अत्यन्त घटित हाता है ॥९१॥

१. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्त्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगस्य सोयमपराधः ॥

अथ निश्चरत्नत्रयं केन साध्यत इत्याह--

उदद्योतोदद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन ।
भव्यो मुक्तपंथ भांक्त साध्यत्येव वास्तवम ॥९२॥

उद्यवः--उत्कृष्ट मिश्रणम । भांक्त--व्यावारिकम ॥९२॥
अथ व्यवहारन्तत्रयं लक्षयति--

श्रद्धानं पुरुषादितत्त्वविषय सदृशान बोधन
सज्ज्ञान कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्जनम ।
तत्पूर्व व्यवहारतः सुचरित तान्येव रत्नत्रयं
तस्याविर्भवनाथमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः ॥९३॥

निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति किससे होती है यह कहते हैं--

उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणके द्वारा भेदरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधना करनेवाला भव्य पुरुष पारमार्थिक मोक्षमार्गको नियमसे प्राप्त करता है ॥१२॥

आगे व्यवहार रत्नत्रयको कहते हैं--

व्यवहार यसे जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ पदार्थोंका जैसा इनका परमार्थस्वरूप है वैसा ही श्रद्धादान करना सम्यग्दर्शन है, जानना सम्यग्ज्ञान है तथा मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे हिंसा आदि पाँच पापोंका सम्यग्ज्ञानपूर्वक छोड़ना सम्यकचारित्र है। इन्हीं तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं। उसी रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए इन्द्रिय और मनके द्वारा होने वाली विषयोकी चाहको रोकना तप है ॥१३॥

विशेषार्थ--जिसकेद्वारा विधिपूर्वक विभाग किया जाये उसे व्यवहार नय या अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहत है। यह नय अभेद रूप वस्तुको भेदरूप ग्रहण करता है। इसका उपयोग अज्ञानी जनोको समझानेके लिए किया जाता है। क्योंकि वस्तुका यथार्थ स्वरूप वचने द्वारा नहीं कहा जा सकता। व्यवहारनयका आश्रय लेकर ही उसे वचनकेद्वारा कहा जा सकता है। और वैसा करने पर गुणो और पर्यायोके विस्तारसे उसकी सैकड़ो शाखाएँ फैलती जाती है। इस तरह व्यवहारनयके आश्रयसे ही प्राथमिक पुरुष मुख्य और उपचार कथनको जानकर शुद्ध स्वरूपको अपनाते है इस दृष्टिसे व्यवहार भी पूज्य है।

छजैसे लोग आत्मा कनेसे नहीं समझते। किन्तु जब व्यवहार नयका आश्रय लेकर कहा जाता है कि दर्शन ज्ञान और चारित्रवाला आत्मा होता है तो समझ जाते है। किन्तु ये तीनों परमार्थसे एक आत्मा ही है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। जैसे देवदत्तका ज्ञान श्रद्धादान

१. तत्त्वं वागतिवर्ति व्यवहतिमासाद्य जायते वाच्यम ड
गुणपर्यायादिविवृत्तः प्रसरति तच्चापि शतशाखम ॥
मुख्योपचारविवृति व्यवहारोपायतो यतः सन्तः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्ध तत्त्वमिति व्यवहतिः पूज्या ॥ --पद्य. ११।१०-११ ।

योगैः--मनोवाक्कायव्यापारैः । तैः प्रत्येक कृतादित्रयेण अवद्योज्जनम इति योज्यम ।
तस्येतयादि । धरत्नत्रयाविभ्रंरामिच्छानिरोधस्तप इति हयागमः । ॥१३॥

अथ श्रद्धादानादित्रयसमुदायेनैव भावित ेयमुपादेय च तत्त्वं रसायनौषधमिव समीतिसिद्धये
स्यान्नान्यथेति प्रथयति--

श्रद्धादानबोधानुष्ठानैस्तत्त्वमिष्टार्थसिद्धित ।

समस्तैरेव न व्यस्तै रसायनमिवौषधम ॥१४॥

और चारित्र देवदत्त रूप ही है। उससे भिन्न वस्तु नहीं है। उसी प्रकार आत्माका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र आत्मरूप ही है भिन्न वस्तु नहीं है। अतः व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि साधुको नित्य दर्शन ज्ञान और चारित्रकी आराधना करना चाहिए। किन्तु परमार्थसे तीनों आत्मरूप ही है। इसी तरह निश्चयसे आत्माके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं और व्यवहारसे जीव आदि नौ पदार्थोंके श्रदानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये नौ पदार्थ व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए व्यवहार नयसे कहे गये हैं क्योंकि जीव और अजीवके मेलसे ये नौ तत्त्व बनते हैं। एकके ही नहीं बन सकते। बाह्य दृष्टिसे देखने पर जीव और पुद्गुलकी अनादि बन्ध पर्यायको लेकर उनमें एकपने का अनुभव करने पर तो ये नौ तत्त्व सत्यार्थ हैं। किन्तु एक जीव द्रव्यके ही स्वभावको लेकर देखने पर असत्यार्थ है क्योंकि जीवके एकाकार स्वरूपमें ये नहीं है। अन्तर्दृष्टिसे देखने पर ज्ञायक भाव जीव है, जीवके विकारका कारा अजीव है, पुण्य-पाप, आस्त्रव बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये अकेले जीवके विकार नहीं हैं किन्तु अजीवके विकारसे जीवके विकारके कारण हैं। जीवके स्वभावको अलग करके स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्याय रूपसे अनुभव करके इन तत्त्वोंका श्रद्धान करना व्यवहारनयसे या व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तरह इनका जानना सम्यक्ज्ञान है।

मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनसे झूट, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापोंका त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। अर्थात् मनसे करने-कराने और अनुमोदना करनेका त्याग, इसी तरह वचनसे और कायसे भी सिद्धि पापोंके करने-कराने और अनुमोदनाका त्याग होना चाहिए। यद्यपि ये बाह्यत्याग प्रतीत होता है इसलिए इसे व्यवहार नाम दिया है तथापि इसका लक्ष्य है आत्माको राग-द्वेषसे निवृत्त करना। राग द्वेषवश ही पापकार्ममें प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्तिको रोकनेसे रागद्वेषकी निवृत्तिमें सहायता मिलती है। यद्यपि तप चारित्रमें ही अन्तर्भूत है तथापी आराधनामें तपको अलग गिनाया है। इसलिए तपका लक्षण भी कहा है। तप रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए किया जाता है। आगममें कहा है कि रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए विषयोकी इच्छाको रोकना तप है ॥१३॥

आगे कहते हैं कि जैसे श्रद्धा ज्ञान और आचरणपूर्वक ही रसायन औषध इष्टफल दायक होती है इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायपूर्वक किया गया हेय और उपादेय तत्त्वका चिन्तन ही इष्टसिद्धिकारक होता है अन्यथा नहीं--

जैसे रसायन औषधके श्रद्धानमात्र या ज्ञानमात्र या आचरणमात्रसे इष्टार्थ-दीर्घ आयु आदिकी सिद्धि नहीं होती किन्तु रसायनके ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक आचरण करनेसे ही होती

इष्टार्थः--अभ्युदयमोक्षौ दीर्घायुरादिश्च । तथा चोक्तम्--

दीर्घमायुः स्मृतिमेघा आरोग्य तरुण वयः ।

प्रभावर्णस्वरौदार्य देहेन्द्रिबलोदयम् ॥

वाकसिद्धि वृषता कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।

लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम् ॥ []

न व्यस्तैः । उक्तं च--

ज्ञानादवगमोर्त्राना न तत्कार्यसमागमः ।

तर्षापकर्षपोशि स्याद दृष्टमेवान्यथा पयः ॥

[सोम. उपा. २०]

ज्ञानीहीने--

श्रध्दानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुडदवगमहामाम ।

धीरो व्रतबलपरिवृतमारु ढोरीन जयेत प्रणिधितया ॥१५॥

है । वैसे ही श्रध्दान, ज्ञान और अनुष्ठान इन तीनोंके समुदायके साथ ही तत्व अभ्युदय और मोक्षदायक होता है मात्र दर्शन या ज्ञान या चारित्र अथवा इनमेसे किन्ही दो केभी होने पर इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥१४॥

आगे कहते है कि व्यवहारमार्ग पर चलनेवालेको समाधि रूप निश्चय मार्गके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओको परास्त करना चाहिए--

जैसे धीर-वीर योद्धा, कुशल पीलवानके द्वारा नियन्त्रित गन्धहस्तीपर चढकर, सेनाके साथ, शस्त्रमे शत्रुओको जीतता है वैसे ही धीर मुमुक्षु भी उच्च ज्ञानरूपी पीलवानके साथ निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी गन्धहस्ती पर आरु ढ होकर व्रतरूपी सेनासे धिरा हुआ समाधिरूपी शस्त्रके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओको जीतता है ॥१५॥

विशेषार्थ--यहाँ निर्दोष सम्यग्दर्शनको गन्धहस्तीकी उपमा दी है । गन्धहस्ती अपने पक्षको बल देता है और परपक्षको नष्ट करता है । निर्दोष सम्यग्दर्शन भी आत्माकी शक्तिको बढ़ाता और कर्मोंकी शक्तिको क्षीण करता है । ज्ञानको पीलवानकी उपमा दी है । कुशल पीलवानके विना गन्धहस्तीका नियन्त्रण सम्भव नहीं है । इसी तरह श्रध्दानके साथ आत्मज्ञानका होना आवश्यक है । तथा व्रतोको सेनाकी उपमा दी है । सेनाके विना अकेला वीर शत्रुको परास्त नहीं कर सकता । इसी तरह विना चारित्रके अकेले सम्यग्दर्शनसे भी कर्मोंको नहीं जीता जा सकता । किन्तु इन सबके सिवा भी अत्यन्त आवश्यक शस्त्र है समाधि--आत्मध्यान, आत्माकी निर्विकल्प रूप अवस्थां हुए विना व्रतादिसे भी प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बन्धका कारण है केवल निवृत्ति रूप अंश ही बन्धका रोधक और धातक है । अतः आत्माभिमुख होना ही श्रेयस्कर है । अपनी और प्रवृत्ति और बाह्य ओर निवृत्ति ही चारित्र है किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना यह सम्भव नहीं ॥१५॥

१. द्वादश पत्रं नास्ति मूलप्रतौ ।

दृष्टयादीना मलनिरसंन घोटनं तेषु शश्वद

वृत्तिः स्वयस्योदद्यवनमुदित धारण निस्पृहस्य ।

निर्वाहः स्याद भुवभयभृतः पूर्णता सिद्धिरेषा

निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापंण कृच्छपाते ॥ ९६ ॥

शडादयो मला दृष्टेर्व्यत्यासानिश्चयौ मतेः ।

वृत्तस्य भुवनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः ॥ ९७ ॥

अब उद्योत आदिका लक्षण कहते हैं-

अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र और तपके दोषोको दूर करके उन्हें निर्मल करनेको आचार्याने उद्योतन कहा है । तथा उनमें सदा अपनेको एकमेक रूपसे वर्तन करना उद्यवन है । लाभ, पूजा, ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके निस्पृह भावसे उने सम्यग्दर्शन आदिको निराकुलता पूर्वक वहन करना धारणा है । संसारसे भयभीत अपनी आत्मामें इन सम्यग्दर्शनादिको पूर्ण करना सिद्धी है । तथा परीषह उपसर्ग आने पर भी स्थिर रहकर अपनेको मरणान्त तक ले जाना अर्थात् समाधिपूर्वक मरण करना निस्तरण है ॥९६॥

विशेषार्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र और तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरणको आराधना कहते हैं ।

शंका आदि दोषोको दूर करना उद्योतन है यह सम्यक्त्वकी आराधना है । शास्त्रमें निरूपित वस्तुके विषयमें घब्रिया ऐसा है या नहीं है इस प्रकार उत्पन्न हुई शंकाका, जिसे सन्देह भी कहते हैं, युक्ति और आगमके बलसे दूर करके यह ऐसे ही है ऐसा निश्चय करना उद्योतन है । निश्चय संशयका विरोधी है । निश्चय होनेपर संशय नहीं रहता । निश्चय न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना ज्ञानका मल है । जब निश्चय होता है यह ज्ञानका उद्योतन है । असंयमरूप परिणाम होना तपका दोष है । उसको दूर करके संयमकी भावना तपका उद्योतन है । उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं । आत्मका निरन्तर सम्यग्दर्शनादि रूपसे परिणमन उद्यवन है । निराकुलता पूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निवर्हण कहते हैं । परीषह आदि आनेपर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोको उत्पन्न करना साधना है । सम्यग्दर्शन आदिको आगामी भवमें भी ले जाना निस्तरण है । इस तरह आराधना शब्दके अनेक अर्थ हैं । जब जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वहाँ वह लेना चाहिए ॥९६॥

आगे सम्यग्दर्शन आदिके मलोको कहते हैं-

सम्यग्दर्शनके मल शंका आदि हैं । ज्ञानके मल विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय हैं । चारित्रका मल प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंका त्याग है । तपका मल प्राणियों और इन्द्रियोंके विषयमें संयमका अभाव है ॥९७॥

वृत्तिर्जातसुदृष्टयादेस्तदगतातिशयेषु या ।
उद्योतादिषु सा तेषा भक्तिराराधनोच्यते ॥१८॥
व्यवहारमभूतार्थ प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात् ।
केवलमुपयुजानो व्यज्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थर्जित ॥१९॥

पहले श्लोक १२ मे उद्योतन आदिके द्वारा मोक्षमार्गका आराधन करना कहा था । भक्ति भी आराधना है अतः उसका लक्षण कहते हैं-

जिसको सम्यग्दर्शन आदि परिणाम उत्पन्न हो गये है अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुषकी सम्यग्दर्शन आदिमे पाये जानेवाले उद्योतन आदि रूप अतिशयोमे जो प्रवृत्ति होती है उसे सम्यग्दर्शनादिकी भक्ति कहते हैं । उसीका नाम आराधना है ॥१८॥

निश्चयनसे निरपेक्ष व्यवहारनयका विषय असत है । अतः निश्चय निरपेक्ष व्यवहारका उपयोग करनेपर स्वार्थका विनाश ही होता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं-

व्यंजन ककार आदि अक्षरोको भी कहते हैं और दाल-शाक वगैरहको भी कहते हैं । जैसे स्वर रहित व्यंजनका उच्चारण करनेवाला अपनी बात दूसरेको नहीं समझा सकता अतः स्वार्थसे भ्रष्ट होता है या जैसे घी, चावल आदिके बिना केवल दाल-शाक खानेवाला स्वस्थ नहीं रह सकता अतः वह स्वार्थ-पुष्टिसे भ्रष्ट होता है-कभी भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता ॥१९॥

विशेषार्थ- आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है । तथा जो जीव भूतार्थक , आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टी होता है । आचार्य अमृतचन्द्र भी निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहते हैं । तथा कहते हैं की प्रायः सभी संसार भूतार्थके ज्ञानसे मिथ्या है - भूतार्थको नहीं जानता । भूतार्थको नहीं जाननेवाले बाह्यदृष्टि लोगोके सम्पर्कसे ही अज्ञानवश व्यवहारको ही यथार्थ मानकर उसीमे उलमे रह जाते हैं । भूतार्थका मतलब है भूत अर्थात् पदार्थामे रहनेवाला अर्थ अर्थात् भाव, उसे जो प्रकाशित करता है उसे भूतार्थ कहते हैं । जैसे जीव और पुद्गलमे अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है । दोनो मिले-जे एक जैसे प्रतीत होते हैं । किन्तु निश्चयनय अद्रव्यको शरीर आदि परद्रव्योसे भिन्न ही प्रकट करता है । और मुक्ति दशामे वह भिन्नता स्पष्ट रूपसे प्रकट हो जाती है । इसलिए निश्चयनयन सत्यार्थ या भूतार्थ है । जैसे जीव और पुद्गलका अस्तित्व भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है । फिर भी एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होनेसे आत्मद्रव्य और शरीर आदि परद्रव्यको एक कहा जाता है ।

१. व्यवहारोभूयत्थो भूयत्थो देसिदो हु सुध्दणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्टी हवइ जीवो ॥-समय., ११
- ३ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थं ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोपि संसारः ॥- पुरु षार्थ., ५

अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है । आशय यह है की जीवके परिणाम निश्चयनयके श्रध्दानसे विमुख होकर शरीर आदि परद्रव्योके साथ एकत्व श्रध्दान रूप होकर जो प्रवृत्ति करते है उसीका नाम संसार है । उस संसारसे जो मुक्त होना चाहते है उन्हे निश्चयनयसे विमुख नही होना चाहिए । जैसे बहुत-से मनुष्य वर्षाऋतुमे नदीके मैले जलको ही पीते है । किन्तु जो समझदार होते है वे पानीमे निर्मली डालकर मिट्टीसे जलको पृथक करके निर्मल जल पीते है । किन्तु कोई एक ज्ञानी अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको जुदा-जुदा करता है तब निर्मल आत्माका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है कि उसमे निर्मल जलकी तरह अपना चैतन्य स्वरूप झलकता है । उस स्वरूपका वह आस्वादन लेता है । अतः निश्चयनय निर्मलीके समान है उसके श्रध्दानसे सर्वसिध्दी होती है । किन्तु अनादि कालसे अज्ञानमे पडा हुआ जीव व्यवहारनयके उपदेशके बिना समझता नही, अतः आचार्य व्यवहारनयकेद्वारा उसे समझाते है की आत्मा चैतन्य स्वरूप है, किन्तु वह कर्मजनित पर्यायसे संयुक्त है अतः व्यवहारसे उसे देव मनुष्य आदि कहते है । किन्तु अज्ञानी उसे देव मनुष्य आदि स्वरूप ही जानता और मानता है । अतः यदि उसे देव मनुष्य आदि नामोसे समझाया जाये तब तो समझतार है । किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा कहनेसे समझता है की यह कोई अलग परमेश्वर है । निश्चयसे तो आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है । परन्तु अज्ञानीको समझानेकेलिए गति, जाति आदिकेद्वारा आत्माका कथन किया जाता है । अतः अज्ञानी जीवोके समझानेकेलिए व्यवहारका उपदेश है । किन्तु जो केवल व्यवहार की ही श्रध्दा करके उसीमे रमा है वह अपने शुध्द चैतन्य स्वरूप आत्माके श्रध्दाने, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय मोक्षमार्गसे विमुख हो, व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रिका साधना करके अपनेको मोक्षका अधिकारी मानता है । अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु , दयाधर्मका श्रध्दान करके अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है, थोडा-सा शास्त्र स्वाध्याय करके अपनेको ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि धारण करके अपनेको चारित्रवान मानता है । इस तरह वह शुभोपयोगमे सन्तुष्ट रहता है, शुध्दोपयोग रूप मोक्षमार्गमे प्रमादी रहता है । आचार्य कन्दकुन्दने शुभोपयोगी मुनिके लिए कहा है की रोगी, गुरु , बाल तथा वृध्द श्रमणोकी वैयावृत्यके लिए लौकीक जनोके साथ शुभोपयोगसे युक्त वार्तालाप करना निन्दनीय नही है ।

किन्तु जब कोई मुनि रोगबी आदि श्रमणोकी सेवामे सलग्न होकर लौकीक जनोके साथ बातचीतमे अत्यन्त लगा रहता है तो वह साधु ध्यान आदिमे प्रमादी होकर स्वार्थसे डिग जाता है । अतः शुभोपयोगी श्रमणको भी शुध्दात्मपरिणतिसे शून्य सामान्य जनोके साथ व्यर्थ वार्तालाप करना भी निषिध्द है । अतः भूतार्थसे विमुख जनोके संसर्गसे भी बचना चाहिए ॥९९॥

जैसे निश्चयसे शून्य व्यवहार व्यर्थ है वैसे ही व्यवहारके बिना निश्चय भी सिद्ध नहीं होता यह व्यतिरेक द्वारा कहते हैं--

१. बेज्जावच्चणिमितं गिलाणगुरु बालवुडढसमणाणं ड
लोगिगजणसभासा ण णिदिदा वा सुहोवजुदा ॥-प्रवचनसार, गा० २५३

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षिति ॥१००॥
भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहतु वंशवन्मुहुः ।
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेप्रस्तदविहयतीश्वरैः ॥१०१॥
कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये ।
साध्यन्ते व्यवहारोसौ निश्चयस्तदभेददृक ॥१०२॥

जो व्यवहारसे विमुख होकर निश्चयको करना चाहता है वह मूढ बीज, खेत, पानी आदिके बिना ही वृक्ष आदि फलोको उत्पन्न करना चाहता है ॥१००॥

विशेषार्थ-यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि वह सर्वथा निषिद्ध नहीं है । अमृत चन्द्राचार्याने कहा है-

ध्वेष्वाचित कदाचित सोपि प्रयोजनवानड

किन्हीं को किसी कालमें व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है, अर्थात् जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सभ्यदर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक जिनवचनोका सुनना, धारण करना, जिनदेवकी भक्ति, जिनबिम्बका दर्शन आदि व्यवहार मार्गमें लगना प्रयोजनीय है । इसी तरह अणुव्रत महाव्रतका पालन, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठीका ध्यान, तथा उसका पालन करनेवालोकी संगति, शास्त्राभ्यास आदि व्यवहार मार्गमें स्वयं प्रवृत्ति करना, दूसरोको प्रवृत्त करना प्रयोजनीय है । व्यवहार नयको सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ देनेसे तो शुभोपयोग भी छूट जायेगा और तब शुद्धोपयोगकी साक्षात् असत्यार्थ जानकर छोड़ देनेसे तो शुभोपयोग भी छूट जायेगा और तब शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति न होनेसे अशुभोपयोगमें प्रवृत्ति करके संसारमें ही भ्रमण करना पड़ेगा । इसलिए जबमतके शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्माकी प्राप्ति न हो तबतक व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है । कहा भी है--

यद्यपि प्रथम पदवीमें पैर रखनेवालोके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब रूप है । फिर भी जो पुरुष परद्रव्यके भावसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र परम अर्थ को अन्तरंगमें देखते हैं उनके जिलाँए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है ॥छ

आगे व्यवहारके अवलम्बन और त्यागकी अवधि कहते हैं-

जैसे नट रस्सीपर स्वच्छतापूर्वक विहार करने के लिए बारम्बार बॉसका सहारा लेते हैं और उसमें दक्ष हो जानेपर बॉसका सहारा लेना छोड़ देते हैं वैसे ही धीर मुमुक्षु को निश्चयनयमें निरालम्बनपूर्वक विहार करनेके लिए बार-बार व्यवहारनयका आलम्बन लेना चाहिए तथा उसमें समर्थ हो जानेपर व्यवहारका आलम्बन छोड़ देना चाहिए ॥१०१॥

आगे व्यवहार और निश्चयका लक्षण कहते हैं-

जो निश्चयकी प्रप्तिके लिए कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोको जीव आदि वस्तुसे भिन्न बतलाता है वह व्यवहानय है। और कर्ता आदिको वस्तुसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है ॥१०२॥

१. व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदाना हन्म हस्तावलम्बः ।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यता नैष किंचित् ।-सम. कल., श्लो. ५

विशेषार्थ-आचार्य अमृतचन्द्रजीने निश्चयनयको आतमश्रित तथा शुद्ध छवयका निरूपक कहा है और व्यवहारनयको पराश्रित तथा अशुद्ध द्रव्यका निरूपक कहा है। परके संयोगसे द्रव्यमें अशुद्धता आती है उसको लेकर जो वस्तुका कथन करता है वह व्यवहानय है। संसारी जीवका स्वरूप व्यवहारनयका विषय है। जैसे, संसारी जीव चार गतिवाला है, पाँच इन्द्रियोवाला है, मनवचन कायवाला है आदि। ये सब उसकी अशुद्ध दशाका ही कथन है जो पराश्रित है। जीव शुद्ध-बुद्ध-परमात्मस्वरूप है यह शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चयनय है। शुद्ध दशा आत्माश्रित होती है किन्तु परद्रव्यके सम्पर्कसे ही अशुद्धता नहीं आती, आखण्ड एक वस्तुमें कथन द्वारा भेद करनेसे भी अशुद्धता आती है। अतः आत्मामें दर्शन ज्ञान-चारित्र्य है ऐसा कथन भी व्यवहारनयका विषय है क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी रूप है। किन्तु व्यवहारी पुरुष धर्मार्थको तो समझते हैं एकधर्मी नहीं समझते। अतः उन्हें समझानेके लिए अभेद रूप वस्तुमें भेद उत्पन्न करके कहा जाता है कि आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र्य है। अभेदमें भेद करनेसे यह व्यवहार के परमार्थसे तो अनन्त धर्मोंको पिये हुए एक अभेद रूप द्रव्य है। अतः जो अभेद रूपसे वस्तुका निश्चय करता है वह निश्चयनय है और जो भेद रूपसे वस्तुका व्यवहार करता है वह व्यवहारनय है। इसीको दृष्टिमें रखकर ऐसा भी कहा गया है की निश्चयनय कर्ता, कर्म आदिका अश्रुत्त ग्रहण करता है अर्थात् निश्चय कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणको भिन्न नहीं मानता और व्यवहार इन्हीं भिन्न मानता है। जो स्वतन्त्रपूर्वक अपने परिणामको करता है वह कर्ता है। कर्ताका जो परिणाम है वह उसका कर्म है। उस परिणामका जो साधकतम है वह करण है। कर्म जिसके लिए किया जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं। जिसमें-से कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं। कर्मके आधारको अधिकरण कहते हैं। ये छह कारक निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके हैं। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि मानी जाती है वहाँ व्यवहार कारक है और जहाँ अपने ही उत्पादानसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक है। जैसे कुम्हार कर्ता है, धडा कर्म है,

दण्ड आदि करण है, जल भरनेवालेके लिए घडा बनाया गया अतः जल भरनेवाला मनुष्य सम्प्रदान है । टोकरीमे-से मिटटी लेकर घडा बनाया अतः टोकरी अपादान है और पृथ्वी अधिकरण है । यहाँ सब कारक एक दूसरे से जुदे-जुदे है । यह व्यवहारनयका विषय है किन्तु निश्चयनसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य के साथ कारक सम्बन्ध नहीं होता । इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार गाथा १६ की टीकामे तथा पच स्तिकाय गाथा ६२ की टीकामे किया है । प्रवचनसारमे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने आत्माको स्वयम्भू कहा है । स्वयम्भूका अर्थ है घस्वयमेव हुआड । इसका व्याख्यान करते हुए अमृतचन्द्रजीने लिखा है- शुध्द अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रू पसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्त होनेसे कर्म है । शुध्द अनन्त शक्तियुक्त ज्ञान रू पसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही सधकतम होनेसे करण है । शुध्द अनन्तशक्ति युक्त ज्ञान रू पसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदान है । शुध्द अन्त शक्ति युक्त ज्ञान रू पसे परिणाम होनेके समय पूर्वमे वर्तमान मतिज्ञान आदि विकल ज्ञान स्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञान स्वभावमे ध्रुव होनेसे अपादान है । तथा शुध्द अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रू पस परिणमित होनेके

सर्वेपि शुध्दबुक्कैस्वभावाश्चेतना इति ।

शुध्दोशुध्दश्च रागाद्या एवात्मेत्तिष्ठ निश्चयः ॥१०३॥

स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरण है । इस प्रकार आत्मा स्वयं ही षटकारक रू प होनेसे स्वयम्भू है ।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ मे कहा है कि निश्चयनयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वय ही अपने-अपने स्वरू पके कर्ता है । इसका व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है- कर्मरू पसे प्रवर्तमान पुदगल स्कन्ध ही कर्म रू प होता है अतः वही कर्ता है । स्वयं द्रव्य कर्म रू प परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे पुदगल ही करण है । द्रव्य कर्मसे अभिन्न होनेसे पुदगल स्वय ही कर्म है । अपनेमे-से पर्व परिणामका व्यय करके द्रव्य रू प कर्म-परिणामका कर्ता होनेसे तथा पुदगल द्रव्य रू प ध्रुव्य होनेसे पुदगल स्वयं ही अपादान है । अपने को द्रव्य कर्म रू प परिणाम देनेसे पुदगल स्वयं ही सम्प्रदान है । द्रव्य कर्म रू प परिणामका स्वयं ही आधार होनेसे पुदगल स्वयं ही अधिकरण है । इसी तरह जीव स्वतन्त्र रू पसे जीव-भावका कारक होनेसे स्वयं ही कर्ता है । स्वयं जीवभाव रू पसे परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे पूर्व जीवभावका व्यर्थ करके नवीन जीवभावको करनेसे तथा जीव द्रव्य रू पसे ध्रुव रहनेसे स्वय ही अपादान है । अपनेको ही जीवभावका दाता होनेसे जीव स्वयं ही सम्प्रदान है । स्वयं ही अपना आधार होनेसे जीवस्य ही अधिकरण है । इस तरह जीव और पुदगल स्वयं ही छह कारक रू पसे प्रवृत्त होनेस अनयकारको की अपेक्षा नहीं करते । यह निश्चयनयकी दृष्टि है ॥१०२॥

शुध्द और अशुध्दकेभेदसे निश्चयकेदो भेद है । इन दोनोका स्वरू प कहते है-

सभी जीव, संसारी भी और मुक्त भी एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनयका स्वरूप है। तथा राग-द्वेष आदि परिणाम ही आत्मा है यह अशुद्ध निश्चयनय है ॥१०३॥

विशेषार्थ-अध्यात्मके प्रतिष्ठाता आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चयनय के लिए शुद्ध शब्दका प्रयोग तो किया है किन्तु निश्चयनयके शुद्ध-अशुद्ध भेद नहीं किये। उनकी दृष्टिमें शुद्धनय निश्चयनय है और व्यवहानय अशुद्ध नय है। कुन्दकुन्दके आद्य व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्रने भी निन्देर्श नहीं किया। ये अवान्तर भेद आलप पद्धतिमें, नयचक्रमें, ब्रम्हदेवजी तथा जयसेनाचार्यकी टीका ओमें मिलते हैं।

समयसार गाथा ५६ में वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावोको व्यवहारनयसे जीवका कहा है। तथा गाथा ५७ में उनके साथ जीवका दूध-पानी तरह सम्बन्ध कहा है। इसकी टीमें आचार्य जयसेने यह शका उठायी है कि वण आदि तो बहिरंग हैं उनके साथ व्यवहानसे जीवका दूध-पानीकी तरह सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु रागादि तो अभ्यन्तर हैं उनके साथ जीवका सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनयसे कहना चाहिए? उत्तरमें कहा है की ऐसा नहीं है, द्रव्य कर्मबन्धको असदभूत व्यवहारनयसे जीव कहा जाता है उसकी अपेक्षा तारतम्य बतलानेके लिए रागादिको अशुद्ध निश्चयनयसे जीव कहा जाता है। वास्तवमें तो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहारनय ही है। इस तरह जयसेन

सदभूतेतरभेदाह व्यवहारः स्याद द्विधा भिदुपचरः ।

गुणगुणिनोरभिदायामपि सदभूतो विपर्ययादितरः ॥१०४॥

सदभूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः ।

केवलबोधादय इति शुद्धोनुपरितसंज्ञोसो ॥१०५॥

मत्यादिविभागुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः ।

देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसदभूतः ॥१०६॥

जीने स्पष्ट किया है। ब्रम्हदेवजीने द्रव्यसंग्रह गाथा टीकाके अन्तमें अध्यात्म भाषाके द्वारा संक्षेपसे छह नयेका लक्षण इस प्रकार कहा है -- सभी जीव एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनयका लक्षण है। रागादि ही जीव हैं यह अशुद्ध निश्चयनयका लक्षण है। गुण और गुणीमें अभेद होनेपर भी भेद का उपचार करना सदभूत व्यवहारनयका लक्षण है। भेद होनेपर भी अभेदका उपचार करना असदभूत-व्यवहार नयका लक्षण है। यथा- जीवके केवलज्ञानदि गुण है यह अनुपचरित शुद्ध सदभूत व्यवहार नयका लक्षण है। संश्लेष सम्बन्ध सहित पदार्थ शरीर आदि मेरे हैं यह अनुपचरित असदभूत व्यवहारनय है। जिने साथ संश्लेष-सम्बन्ध नहीं है ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं यह उपचरित असदभूत व्यवहारनयका लक्षण है। यह नयचक्रके मूलभूत छह नयोका लक्षण है। आलापपद्धतिके अन्तमें भी इन नयोका ऐसा ही स्वरूप कहा है ॥१०३॥

व्यवहारनयके दो भेद हैं सदभूत और असदभूत। इन दोनोंका ऐश्यपूर्वक लक्षण कहते हैं-

सदभूत और असदभूतके भेदसे व्यवहारके दो भेद ह । गुण और गुणीमे अभेद होनेपर भी भेदका उपचार करना सदभूत व्यवहारनय है । और इससे विरीत अर्थात् भेदमे भी अभेदका उपचार करना असदभूत व्यवहारनय है ॥१०४॥

सदभूत व्यवहारनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है । केवलज्ञान आदि जीवके गुण है यह अनुपचरित नाम शुद्ध सदभूत व्यवहार नय है ॥१०५॥

विशेषार्थ-गुण और गुणी अभिन्न होते है । फिर भी जब उनका कथन किया जाता है तो उनमे अभेद हाते हुए भेदका उपचार करना पडता है । जैसे जीवके केवलज्ञानादि गुण है । ये केवलज्ञान आदि जीव के शुद्ध गुण है ओर उपचरित नही है अनुपचरित है-वास्त-विक है । अतः यह कथन अनुपचरित शुद्ध सदभूत व्यवहारनयका विषय है ।

आगेके श्लोकके पूर्वार्धमे अशुद्ध सदभूत व्यवहारनयका कथन और उत्तरार्धमे अनुपचरित असदभूत व्यवहारनयका कथन करते है--

मतिज्ञान आदि वैभाविक गुण जीवके है यह उपचरित नामक अशुद्ध सदभूत व्यवहारनय है । मेरा शरीर यह अनुपचरित असदभूत व्यवहार नय है ॥१०६॥

विशेषार्थ -बाह्य निमित्तको विभाव कहते है । जो गुण बाह्य निमित्तसे होते है उन्हे वैभाविक गुण कहते है । केवलज्ञान जीवका स्वाभाविक गुण है वह परकी सहायतासे नही

देशो मदीय इत्युपचरितसमाहयः स एव चेत्युक्तम् ।

नयचक्रमूलभूत नयषटकं प्रवचनपटिष्ठैः ॥१०७॥

होता । किन्तु मतिज्ञानादि अपने प्रतिबन्धक मतिज्ञानावरणदिके क्षयोपशम तथा इन्द्रिय मन आदिकी अपेक्षासे होते है । यह ध्यानमे रखना चाहिए कि शुद्धकी संज्ञा अनुपचरित है और अशुद्धकी संज्ञा उपचरित है । आलापपध्दतिमे सदभूत और असदभूतके शुद्ध और अशुद्ध भेद करके उनकी संज्ञा अनुपचरित और उपचरित दी है । उन्हीका अनुसरण आशाधरजीने किया है । अस्तु, घमेरा शरीर यह अनुपचरित असदभूत व्यवहार नयका कथन है , क्योकि वस्तुतः शरीर तो पौदगलिक है उसे अपना कहना असदभूत व्यवहार है किन्तु शरीरके साथ जीवका संश्लेष सम्बन्ध है अतः उसे अनुपचरित कहा है ।

उपचरित असदभूत व्यवहार नयका कथन करके प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते है-

घमेरा देश यह उपचरित असदभूत व्यवहारनयका उदाहरण कहा है । इस प्रकार आध्यात्म शास्त्रके रहस्यको जाननेवालोने नयचक्रके मूलभूत छह नय कहे है ॥१०७॥

विशेषार्थ- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान प्रमाण है। इनमें-से श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों ज्ञान स्वार्थ है, उनसे ज्ञाता स्वयं ही जानता है, दूसरोको ज्ञान करानेमें असमर्थ है। श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी। उससे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरोको भी ज्ञान करा सकता है। ज्ञानके द्वारा स्वयं जानना होता है और वचनके द्वारा दूसरोको ज्ञान करा सकता है। ज्ञानके द्वारा स्वयं जानना होता है और वचनरूप भी होता है। उसीके भेद नय है। नय प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक देशको जानता है। तथा मति, अवधि और मनःपर्ययके द्वारा जाने गये अर्थके एक देशमें नयीकी प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि नय समस्त देशवर्ती और समस्त कालवर्ती अर्थ को विषय करता है, किन्तु मति आदि ज्ञानका विषय सीमित है। केवलज्ञान यद्यपि त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सभी पदार्थोंको जानता है किन्तु वह स्पष्ट है और नय अस्पष्टग्राही है। स्पष्टग्राही ज्ञानके भेद अस्पष्टग्राही नहीं हो सकते। किन्तु श्रुतके भेद होनेपर यह आपत्ति नहीं रहती [देखो-त. श्लोक वा.,[१६]

किसी भी वस्तुके विषयमें ज्ञाताका जो अभिप्राय है उसे नय कहते हैं। नयके भेद दो प्रकारसे मिलते हैं। आगम या सिद्धान्तमें नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवं भूत ये सात भेद कहे हैं। किन्तु अध्यात्ममें उक्त छह भेद कहे हैं। जिसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है उसे अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्म आत्माकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुका विचार करता है। अखण्ड अविनाशी आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है वह शुद्ध निश्चय नयका विषय है और अशुद्ध स्वरूप अशुद्ध निश्चय नयका विषय है। आत्माके शुद्ध गुणोंको आत्मा के कहना अनुपचरित सदभूत व्यवहार नयका विषय है और आत्माके वैभाविक गुणोंको आत्माका कहना उपचरित सदभूत व्यवहार नय है। क्योंकि वे गुण आत्माके ही हैं इसलिए सदभूत हुए। उन्हें आत्मासे भेद करके कहनेसे व्यवहार हुआ। शुद्ध गुण अनुपचरित हैं अशुद्धगुण उपचरित हैं। मेरा शरीर यह अनुपचरित असदभूत व्यवहार है। शरीरका जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे इसे अनुपचरित कहा है। किन्तु शरीर तो जीव नहीं है इसलिये

अनेकान्तात्मकादर्थोदपोद्धत्याजसान्नयः ।

तत्प्राप्त्युपायमेकान्त तदंशं व्यावहारिकम् ॥१०८॥

प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्चब्दात्तच्चास्त्रवत् सह हि ।

मिथ्यानपेक्षोर्कान्तक्षेपान्नानयस्तदत्ययात् ॥१०९॥

असदभूत कहा है। मेरा देश यह उपचरित असदभूत व्यवहार है क्योंकि देशके साथ तो संश्लेष रूप सम्बन्ध भी नहीं है फिर भी उसे अपना कहता है। इस नय विक्षेपके भेदसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्माकिसके साथ कैसा सम्बन्ध है? ऐसा होनेसे परमे आत्म बुद्धिकी भावना हट जाती है ॥१०७॥

दो श्लोकोकेद्वारा नयकेमिथ्या होनेकी शकाको दूर करते है-

वस्तु अनेकान्तात्मक है- परस्परमे विरोधी प्रतीत होनेवाले अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्मवाली है । वह श्रुतज्ञानका विषय है । उस परमार्थ सत अनेकान्तात्मक अर्थासे उसके एक धर्मको, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिमे साधक हो तथा जिसके द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन किया जा सकता हो ऐसे एक धर्मको भेदविवक्षाके द्वारा पृथक करके ग्रहण करनेवाला नय मिथ्या नहीं है । जैसे घेवदत्त पकाता हैड इस प्रकृति प्रत्यय विशिष्ट यथार्थ वाक्यसे उसके एक अंश प्रकृति प्रत्यय आदिको लेकर प्रकट करनेवाला व्याकरण शास्त्र मिथ्या नहीं है । हॉ, निरपेख नय मिथ्या होता है क्योंकि वह अनेकान्तका घातक है । किन्तु सापेक्ष नय मिथ्या नहीं है क्योंकि वह अनेकान्त का अनुसरण करता है ।

विशेषार्थ-जैनदर्शन स्यायीवादी या अनेकान्तवादी कहा जाता है । अन्य सब दर्शन एकान्तवादी है , क्योंकि वे वस्तुको या तो नित्य ही मानते है या अनित्य ही मानते है । एक ही मानते है या अनेक ही मानते है । उनकी समझमे यह बात नहीं आती कि एक ही वस्तु नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत-असत आदि परस्पर विरोधी धर्मावाली कैसे हो सकती है । किन्तु जैनदर्शन युक्ति जैनदर्शन युक्ति और तर्कसे एक ही वस्तुमे परस्पर विरोधी धर्माका अस्तित्व सिद्ध करता है । वह कहता है प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत है, पररूपकी अलेख असत है, घट घट रूपसे सत है, पटरूपसे असत है । यदि घट पटरूपसे असत न हो तो वह पटरूपसे सत कहा जायेगा और ऐसी स्थितिमे घट और पटका भेद ही समाप्त हो जायेगा । अतः वस्तुका वस्तुत्व दो बातोपर स्थिर है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपको अपनाये हुए है और पररूपको नहीं अपनाये हुए है । इसीको कहा जाता है कि वस्तु स्वरूपसे सत और पररूपसे असत है । इसी तरह द्रव्य पर्यायात्मक है । द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य होती है । अतः द्रव्यरूपसे वस्तु वस्तु एक है, पर्यायरूपसे अनेक है । द्रव्य और पर्याय अनित्य होती है । अतः द्रव्यरूपसे वस्तु एक है , पर्यायरूपसे अनेक है । द्रव्य अभेदरूप होता है, पर्याय भेदरूप होती है । अतः द्रव्यरूपसे अभिन्न और पर्याय रूपसे भेदात्मक वस्तु है । इस तरह वस्तु अनेकान्तात्मक है । ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तुके एकधर्मको ग्रहण करनेवाला नय है । नयकेद्वारा ग्रहण क्रिया गया धर्म काल्पनिक नहीं होता, वास्तविक होता है तथा धर्म और धर्मीमे भेदकी विवक्षा करके उस एक धर्मको ग्रहण किया जाता है । उससे अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन करनेमे सरलता भी होती है । असलमे अनेक धर्मात्मक वस्तुका जानकर ज्ञाता विवक्षाके अनुसार

येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम् ।

येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ॥११०॥

एक धर्मको ग्रहण करता है । जैसे जब आत्माके शुद्ध स्वरूपके कथनकी विवक्षा है तो कहा जाता है आत्माके गुणस्थान नहीं है, मार्गणास्थान नहीं है, जीवसमास नहीं है, और जब आत्माकी संसारी दशाका चित्रण करना होता है तो उसके गुणस्थान, जीवनसमास आदि सभ बतलाये जाते है । इससे आत्माके

स्वाभाविक और वैभाविक दोनो रू पोका बोध हो जाता है । यदि कोई यह हट पकड ले कि संसारी जीवके संसार आवस्थांमे भी गुणस्थानादि नहीं है और वह द्रव्य रू पसे ही नहीं पर्याय रू पसे भी शुद्ध-बुद्ध है तो वह मिथ्या कहलायेगा । जो वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी अन्य धर्माका निषेध नहीं करता वह नय है और जो ऐसा करता है वह दुर्नय है । दूर्नय अनेकान्तका घातक है, नय अनेकान्तका पोषक है । ॥१०८-१०९॥

आगे एकदेश विशुद्धि और एकदेश संक्लेशका फल कहते है-

जीवके जितने अंशसे विशुद्धि होती है उतने अशसे कर्मबन्ध नहीं होता और जितने अंशसे राग रहता है उतने अशसे बन्ध अवश्य होता है ॥११०॥

विशेषार्थ-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थान भेदसे अशुभ, शुभ और शुद्धरू प तीन उपयोग होते है । मिथ्यादृष्टि, सांसादन और मिश्र गुणस्थानोमे ऊँपर-ऊँपर मन्द होता हुआ अशुभोपयोग हेत है । उससे आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानोमे

शुभं, शुभतर और शुभतम होता हुआ शुभोपयोग रहता है जो परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक है । उसके अनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त जधन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे शुद्ध नयरू प शुद्धोपयोग होता है । इनमे से प्रथम गुणस्थानमे तो किसी भी कर्मका संवर नहीं है, सभी कर्मोका यथायोग्य बन्ध होता है ।